विश्व शांति एवं अहिंसा प्रशिक्षण

डॉ० बच्छराज दूगड़
अध्यक्ष
अहिसा एव शांति अध्ययन विभाग
जैन विश्वभारती सस्थान, लाडनू

प्रकाशक
आचार्य शांतिसागर 'छाणी' स्मृति ग्रंथमाला
बुढ़ाना, मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

परमपूज्य उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज के स्वर्ण जन्मजयंती वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित

ISBN No. . 978-81-904688-5-5

पुण्यार्जक : • श्री सुदर्शन जैन, श्री सुशील जैन
'जैना प्लास्टिक' ए-72, मधुबन
दिल्ला-53

प्रथम संस्करण : 1995, 1000 प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण : 2001, 1000 प्रतियाँ
तृतीय संस्करण : 2008, 1100 प्रतियाँ

मूल्य : 80/- रुपये मात्र (पुन: प्रकाशन हेतु)

प्राप्ति स्थान :

- **आचार्य शांतिसागर 'छाणी' स्मृति ग्रंथमाला**
  बुढ़ाना (मुजफ्फरनगर)

- **श्रुत संवर्द्धन संस्थान**
  प्रथम तल, 247 दिल्ली रोड,
  मेरठ–250 002,
  दूरभाष–0121-2533707, 2528704

- **प्राच्य श्रमण भारती**
  12/ए प्रेमपुरी,
  मुजफ्फरनगर-250002 (उ० प्र०)

- **संस्कृति संरक्षण संस्थान**
  X/3349, गली नं० 1, रघुवरपुरा नं० 2,
  शाति मौहल्ला, गाँधी नगर, दिल्ली-110031
  दूरभाष–011-22465078, 9312243845

समर्पण
परम पूज्य
सराकोद्धारक
श्री
ज्ञानसागरजी
को

आचार्य परम्परा

बाल ब्रह्मचारी, प्रशान्त मूर्ति आचार्य 108 श्री शान्तिसागर जी महाराज (छाणी)

जन्म तिथि	–	कार्तिक बदी एकादशी वि॰स॰ – 1945 (सन् 1888)
जन्म स्थान	–	ग्राम–छाणी जिला – उदयपुर (राजस्थान)
जन्म नाम	–	श्री केवलदास जैन
पिता का नाम	–	श्री भागचन्द जैन
माता का नाम	–	श्रीमती माणिकबाई
क्षुल्लक दीक्षा	–	सन् 1922 (वि॰स॰ 1979)
स्थान	–	गढ़ी, जिला–बासबाड़ा (राजस्थान)
मुनि दीक्षा	–	भाद शुक्ला 14 सवत् 1980 (सन् 1923)
स्थान	–	सागवाड़ा (राजस्थान)
आचार्य पद	–	सन् 1926
स्थान	–	गिरीडीह (झारखड प्रान्त)
समाधिमरण	–	17 मई 1944 ज्येष्ठवदी दशमी
स्थान	–	सागवाड़ा (राजस्थान)

परम पूज्य आचार्य 108 श्री सूर्यसागर जी महाराज

जन्म तिथि	–	कार्तिक शुक्ला नवमी वि॰स॰ 1940 (सन् 1883)
जन्म स्थान	–	प्रेमसर, जिला – ग्वालियर (म॰प्र॰)
जन्म नाम	–	श्री हजारीलाल जैन
पिता का नाम	–	श्री हीरालाल जैन
माता का नाम	–	श्रीमती गैंदाबाई
ऐलक दीक्षा	–	वि॰स॰– 1981 (सन् 1924) (आ॰ शान्तिसागर जी से)
स्थान	–	इन्दौर (मध्य प्रदेश)
मुनि दीक्षा	–	51 दिन पश्चात् आचार्य शान्तिसागर जी (छाणी) से
स्थान	–	हाटपीपल्या जिला – देवास (म प्र)
आचार्य पद	–	वि॰ स॰ 1985 (सन् 1928)
स्थान	–	कोडरमा (झारखण्ड)
समाधिमरण	–	वि॰ स॰ 2009 (14 जुलाई 1952)
स्थान	–	डालमिया नगर (झारखण्ड)
साहित्य क्षेत्र मे	–	33 ग्रन्थो की रचना की।

परम पूज्य आचार्य 108 श्री विजयसागर जी महाराज

जन्म तिथि	–	वि॰ स॰ 1938 माघ सुदी 8 गुरुवार
जन्म स्थान	–	सिरोली (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम	–	श्री चोखेलाल जैन
पिता का नाम	–	श्री मानिक चन्द जैन
माता का नाम	–	श्रीमती लक्ष्मी बाई
क्षुल्लक दीक्षा	–	इटावा (उत्तर प्रदेश)
ऐलक दीक्षा	–	मथुरा (उत्तर प्रदेश)
मुनि दीक्षा	–	मारोठ (जि नागौर, राजस्थान) आचार्य श्री सूर्यसागर जी से
समाधि तिथि	–	20 दिसम्बर 1962
स्थान	–	मुरार जिला – ग्वालियर (मध्य प्रदेश)

परम पूज्य आचार्य 108 श्री विमलसागर जी महाराज (भिन्ड वाले)

जन्म तिथि	–	पौष शुक्ला द्वितीया वि॰ स॰ 1948 (सन् 1891)
जन्म स्थान	–	ग्राम मोहना, जिला – ग्वालियर (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम	–	श्री किशोरीलाल जैन
पिता का नाम	–	श्री भीकमचन्द जैन
माता का नाम	–	श्रीमती मथुरादेवी जैन
क्षुल्लक दीक्षा	–	वि॰ स॰ 1998 (सन् 1941) आ॰ विजयसागर जी से
स्थान	–	ग्राम – पाटन, जिला – झालावाड (राजस्थान)
मुनि दीक्षा	–	वि॰ स॰ 2000 – आ॰ विजयसागर जी से
स्थान	–	सागोद, जिला – कोटा (राजस्थान)
आचार्य पद	–	सन् 1973, स्थान – हाडौती
समाधिमरण	–	13 अप्रैल 1973 (वि॰ स॰ 2030)
स्थान	–	सागोद, जिला – कोटा (राजस्थान)

मासोपवासी, समाधिसम्राट परम पूज्य आचार्य 108 श्री सुमतिसागर जी महाराज

जन्मतिथि	–	वि॰ स॰ 1974 आसोज शुक्ला चतुर्थी (सन् 1917)
जन्म स्थान	–	ग्राम – श्यामपुरा जिला – मुरैना (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम	–	श्री नत्थीलाल जैन
पिता का नाम	–	श्री छिद्दूलाल जैन
माता का नाम	–	श्रीमती चिरौंजा देवी जैन
ऐलक दीक्षा	–	वि॰ स॰ 2025 चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (सन् 1968)
स्थान	–	मुरैना (मध्य प्रदेश) आ॰ विमलसागर जी से
ऐलक नाम	–	श्री वीरसागर जी
मुनि दीक्षा	–	वि॰ स॰ 2025 अगहन वदी द्वादशी (सन् 1968)
स्थान	–	गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश)
आचार्य पद	–	ज्येष्ठ सुदी 5 वि॰स॰ 2030, अप्रैल 13, सन् 1973
स्थान	–	मुरैना (म.प्र.) आ. विमलसागर जी (भिण्डवाले) महाराज से।
समाधिमरण	-	क्वार वदी 12 दि॰ 3 10 94
स्थान	–	सोनागिर सिद्धक्षेत्र, जिला दतिया (मध्य प्रदेश)

सराकोद्धारक परम पूज्य उपाध्याय 108 श्री ज्ञानसागर जी महाराज

जन्म तिथि	–	वैशाख शुक्ल द्वितीया, वि॰स॰ 2014, मई 1, सन् 1957
जन्म स्थान	–	मुरैना (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम	–	श्री उमेश कुमार जैन
पिता का नाम	–	श्री शातिलाल जैन
माता का नाम	–	श्रीमती अशर्फी जैन
ब्रह्मचर्य व्रत	–	सन् 1974
क्षुल्लक दीक्षा	–	सोनागिर जी 5 11 1976
क्षु दीक्षोपरान्त नाम	–	क्षु॰ श्री गुणसागर जी
क्षुल्लक दीक्षा गुरु	–	आचार्य श्री सुमतिसागर जी महाराज
मुनि दीक्षा	–	सोनागिर जी, महावीर जयन्ती, 31 3 1988
मुनि दीक्षोपरान्त नाम	–	मुनि श्री ज्ञानसागर जी
दीक्षा गुरु	–	आचार्य श्री सुमतिसागर जी महाराज
उपाध्याय पद	–	सरधना 30 1 1989

आशीर्वचन

समाज में अनेक प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, जिनके अनेक विचार हैं। ऐसी स्थिति में विचारों की टकराहट न हो, संघर्ष न हो, यह कैसे संभव हो सकता है? मनुष्य जाति को जीना है तो उसका मार्ग है सहिष्णुता और सह-अस्तित्व। प्रत्येक व्यक्ति की यह चाह होती है—सब उस जैसा ही व्यवहार करें। विरोधी रूचियों, विरोधी स्वभावों के सहने की क्षमता है तो न केवल युद्ध टाले जा सकते हैं वरन् शांति की दिशा में विकास भी हो सकेगा।

अहिंसा सभी प्राणियों के प्रति प्रेम है। प्रेम का अर्थ सुख-दुःख एवं प्रत्येक प्रयत्नों में सभी के प्रति भाईचारेपन का अनुभव करना है। हर जीवन के प्रति सम्मान हमारे जीवन को मूल प्रेरणा है, दिशा निर्देशक शक्ति है तथा सहानुभूति, प्रेम तथा अन्य सभी मूल्यवान उत्साहों का आधार है। परन्तु दुःख की बात है कि यह संसार एक ऐसा दुखान्त नाटक है कि जिसमें हर व्यक्ति जीवन के विरुद्ध ही जीना चाहता है, एक-दूसरे को नष्ट कर अपना अस्तित्व कायम रखना चाहता है। तभी जीवन के प्रति सम्मान का सिद्धांत इससे भिन्न परिदृश्य की कल्पना करता है। इस व्यवस्था में अपनी जिजीविषा के अन्तर्गत दूसरे की जिजीविषा का ज्ञान भी सम्मिलित है। इसमें सम्पूर्ण जीवन को सार्वभौम बनाने की दृष्टि से एकता स्थापित करने की आकांक्षा रहती है। इसलिए जीवों के प्रति सम्मान के नीतिशास्त्र का अर्थ है—अपने जीवन का सम्मान करना और अपने जीवन से इतर जीवन का सम्मान करना।

'विश्वशांति एवं अहिंसा प्रशिक्षण' कृति में संघर्ष, शांति, मानवाधिकार, अहिंसा प्रशिक्षण एवं पर्यावरण का सटीक वर्णन डॉ॰ बच्छराज दूगड़ लाडनूं ने किया है। जन-सामान्य इससे लाभान्वित होगा। लेखक, पुण्यार्जक एवं प्रकाशन संस्था के सभी कर्मठ कार्यकर्त्ताओं को मेरा आशीर्वाद है।

—उपाध्याय ज्ञानसागर मुनि

प्रकाशकीय

जैन वाङ्गमय और जैन पाण्डुलिपियों के संकलन, संरक्षण तथा संपादन, नवीन साहित्य के प्रकाशन, लोकोपयोगी सत्साहित्य जन-जन को सुलभ कराने तथा आगमिक ग्रन्थों के प्रकाशन की क्षीण होती परम्परा को पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से परम पूज्य सराकोद्धारक राष्ट्रसंत उपाध्यायरत्न श्री ज्ञानसागर जी महाराज की प्रेरणा से स्थापित इस संस्था से भला आज कौन परिचित नहीं है। अल्प समय में इस संस्था ने पूज्य गुरुदेव के मंगल आशीर्वाद से शताधिक ग्रन्थों का जहाँ प्रकाशन किया वहीं अनेक कृतियाँ ऐसी भी प्रकाशित की जिन्होंने केवल जैन समाज में ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर नयी दस्तक देकर कीर्तिमान स्थापित किया है।

संप्रति साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में आचार्य शांतिसागर 'छाणी' स्मृति ग्रन्थमाला बुढ़ाना, प्राच्य श्रमण भारती मुजफ्फरनगर, श्रुत संवर्द्धन संस्थान मेरठ एवं संस्कृति संरक्षण संस्थान दिल्ली कंधे से कंधा मिलाकर कार्य कर रहे हैं।

इन संस्थाओं ने तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (चार भाग), जैन धर्म, जैन शासन, षट्खण्डागम को पुन: प्रकाशित कराकर जन-जन को सुलभ कराए हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड-परिशीलन, न्याय कुमुदचंद्र परिशीलन जैसे न्याय ग्रन्थ प्रकाशित कर ग्रन्थों की विषयवस्तु को जानने समझने में पाठकों की सराहनीय सहायता की है। जैन न्याय को आचार्य अकलंक देव का अवदान, आचार्य कुंदकुंद संगोष्ठी, आचार्य समन्तभद्र संगोष्ठी, तीर्थंकर पार्श्वनाथ संगोष्ठी, सराक-संगोष्ठी आदि से सम्बन्धित ग्रन्थों के अतिरिक्त उन विद्वानों को चिर-स्मरणीय बनाए रखने के लिए प्रयत्न किया गया है, जिन्होंने जैन वाङ्गमय की बहुत सराहनीय सेवा की है।

डॉ० बच्छराज दूगड़ द्वारा लिखित प्रस्तुत कृति "विश्वशांति एवं अहिंसा प्रशिक्षण" का न केवल भारतवर्ष में है अपितु सम्पूर्ण विद्वत्-जगत में अत्यंत सम्मान हुआ तथा शीघ्र ही इसके संस्करण समाप्त हो गये। पुस्तक की निरतर माँग बनी रहने के कारण हम यह तृतीय संस्करण पुन: प्रकाशित कर रहे हैं, ताकि जन सामान्य इसका पूरा लाभ ले सके।

पूज्य उपाध्यायश्री के चरणों में शत्-शत् नमोऽस्तु करते हुए हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि हमें इस तरह से पावन कार्यों में उनका आशीर्वाद एवं मार्गदर्शन सतत् प्राप्त होता रहे।

मंत्री

आचार्य शांतिसागर 'छाणी' स्मृति ग्रंथमाला

प्रस्तुति

मनुष्य की चिर-प्रतीक्षित आकांक्षा है--शाति, जो उसके अस्तित्व, विकास एवं प्रगति के लिए भी आवश्यक है। "जिस तरह युद्ध मानव-मस्तिष्क में जन्म लेते हैं शांति भी मानव मस्तिष्क से ही जन्म लेगी।" यूनेस्को की यह घोषणा स्पष्ट करती है कि हिंसा के प्रति प्रतिबद्धता घनी मारकाट, आणविक सर्वनाश, मानवीय एवं भौतिक संसाधनों का भारी अपव्यय, विषमतावादी अर्थव्यवस्थ। मानवाधिकारों का उल्लंघन, हिंसक प्रतिशोध, हिंसा-प्रधान विज्ञान और प्रोद्यौगिकी, विप्लव, गृह-युद्ध, युद्ध, उपनिवेशवादी परम्पराओं आदि को तो जन्म दे सकती है पर शांति को नहीं। "जिस जाति ने युद्ध का आविष्कार किया वही शांति का आविष्कार करने में सक्षम है।" सेबाइल घोषणा-पत्र का यह अंतिम वाक्य आत्मविश्लेषण को इंगित करता हुआ यह कहता है--अब वह समय आ गया है जब हमें अहिंसा सार्वभौम रूपान्तरण की हमारी युगो पुरानी कल्पना को साकार रूप देने के प्रयत्नों को और भी गति देनी होगी तथा इसका प्रारम्भ स्वयं से करना होगा।

कलह, वर्ग-संघर्ष, उग्रवाद, शस्त्रीकरण, सत्ता और संपत्ति का असमान वितरण--ये सब हिंसा के स्फुलिंग होते हुए भी हिंसा के कारणों के रूप में इन्हें जिम्मेदार ठहराना सतही चिंतन होगा। मूल रूप से असीमित इच्छाएं, क्रोध, भय, घृणा, क्रूरता, मिथ्याभिमान, संग्रहवृत्ति आदि मानवीय संवेग ही हिसा के लिए उत्तरदायी हैं। अनेकातिक चिंतन, सापेक्ष दृष्टिकोण, सह-अस्तित्व, सहिष्णुता, जीवन के प्रति सम्मान, विसर्जन, साधन-शुद्धि--ये सब अहिंसा के स्फुलिग हैं। इनके प्रशिक्षण और प्रयोग से शांति की अखण्ड लौ प्रज्वलित की जा सकती है।

वर्तमान में एक ओर अहिंसा एवं विश्वशांति की केवल चर्चा हो रही है, दूसरी ओर हिंसा की चर्चा ही नहीं, प्रयोग और प्रशिक्षण भी चल रहा है। एक ओर मानवाधिकारों की बात की जा रही है, दूसरी ओर एक मानव को मारना तिनके को तोड़ना जैसा हो गया है। एक ओर विकास शिखर को छू

रहा है, दूसरी ओर आणविक विनाश की काली छाया मंडरा रही है। एक ओर आधुनिकतम तकनीकें विकसित हो रही हैं, दूसरी ओर पर्यावरण प्रदूषण बढ़ रहा है। एक ओर भौतिक सुख-सुविधाएँ बढ़ रही हैं, दूसरी ओर ओजोन की छतरी का छेद चौड़ा होता जा रहा है। ये कुछ ऐसे विरोधाभास हैं, जो अहिंसा के लिए चुनौती बने हुए हैं, मानव और विश्वशांति के लिए खतरा बने हुए हैं।

प्रस्तुत कृति में न केवल इन समस्याओं का स्पर्श है अपितु इन समस्याओं के समाधान खोजने का एक विनम्र प्रयास भी है। शिक्षा के क्षेत्र मे यदि "अहिंसा-प्रशिक्षण" को प्रारम्भ से ही अनिवार्य किया जाए, हृदय-परिवर्तन की प्रयोग पद्धति का अभ्यास चले तो अहिंसा एवं विश्वशांति की प्रतिष्ठा का एक सशक्त अभिक्रम आकार ले सकता है।

जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) जिसने अहिंसा शिक्षण-प्रशिक्षण का एक प्रभावी विकल्प विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया है, वह मेरी कर्मभूमि भी है। अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञ का दिशा-दर्शन मुझे सदा सहज उपलब्ध रहा है जो मेरी गति का संबल है। आपके निर्देशन में चल रहे अहिंसा-प्रशिक्षण के उपक्रम ने विश्वशांति के संदर्भ में नई संभावनाओं को जन्म दिया है जिसकी प्रतिध्वनि इस कृति में भी उपलब्ध है।

उपाध्यायश्री ज्ञानसागर जी महाराज का अयाचित और अनायास उपलब्ध स्नेह एवं आशीर्वाद मेरे जीवन का अविस्मरणीय संस्करण है। आपके विद्यानुराग ने ही प्रस्तुत कृति को यथार्थता प्रदान की है तथा मेरी लेखनी को और अधिक संबल प्रदान किया है। सराकोद्धारक पूज्यवर के पास मैं जब भी गया हूँ, व्यस्ततम समय में से समय निकालकर मुझे साहित्य चर्चा एवं साहित्य श्रीवृद्धि का अवसर प्रदान किया है। उनका आशीर्वाद मेरा पाथेय है।

जैन विश्व भारती संस्थान के पूर्व कुलपति श्री मोहनसिंह भण्डारी ने भूमिका लिखकर मेरे उत्साह और पुस्तक की सार्थकता को और अधिक वृद्धिंगत किया है।

प्रो॰ नलिन शास्त्री मेरे अग्रज ही हैं। उन्होंने न केवल लेखन के लिए प्रोत्साहित किया अपितु लेखक-मन निर्बाध गति से विचरण करता रहे, इसका भी सदैव ध्यान रखा है। उनकी यह प्रमोद भावना श्लाघ्य ही नहीं अनुकरणीय भी है।

द्वितीय संस्करण में कुछ आवश्यक संशोधन, परिवर्द्धन किये गये है। अहिंसा प्रशिक्षण पर एक अध्याय और जोड़ा गया है। मानव अधिकार और शांति की संस्कृति पर कुछ पाठ और जोड़े गये हैं। प्रस्तुत सामग्री को भी पहले से सरल एवं सरस बनाने की कोशिश की गई है। अहिंसा एवं विश्वशांति में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए भी यह पुस्तक किंचित् भी उपयोगी बन सकी तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

पुस्तक की उपयोगिता को देखते हुए यह तृतीय संस्करण पूज्य उपाध्यायश्री के जन्म स्वर्णजयती वर्ष के उपलक्ष्य में प्रकाशित किया जा रहा है।

—डॉ॰ बच्छराज दूगड़

अहिंसा की अथाह शक्ति को हमारे पूर्वजों ने, दार्शनिक-धर्माचार्यों ने बड़ी मार्मिकता से समझा और अपनाया था। सर्व-ज्ञानी महावीर और गौतम बुद्ध अहिंसा के महान् प्रवर्त्तक थे। वर्त्तमान युग में महात्मा गांधी ने इस भूली हुई शक्ति को फिर से जगाया। मार्टिन लूथर किंग ने अपनी पुस्तक Stride Towards Freedom (1959) में लिखा है—"The intellectual and moral satisfaction that I failed to gain from the utilitarianism of Bentham and Mill, the revolutionary methods of Marx and Lenin, the special contract theory of Hobbes, the 'book to nature optimism' of Rousseau and the superman philosophy of Nietzschey, I found in the nonviolent resistance philosophy of Gandhi "

लगता है कि गांधीजी के पश्चात् हिरोशिमा में हुए हिंसा के ताण्डव-नृत्य के बावजूद, पिछले पांच दशकों में हिंसा की सामग्री, हथियारों की होड और शीत युद्ध की अनिश्चित भयभीत दशा, अधिक उग्र हुई है।

असंयमित तकनीकी विकास ने गरीब और धनी के बीच की खाई को और अधिक चौडा किया है, मानवीय मूल्यों का ध्वंस किया है एवं विश्व को आज एक ऐसी चोटी पर ला खडा किया है जहां से गिरते ही सर्वनाश हो सकता है। विज्ञान की एक सीमा है, इन्द्रियों एवं तर्क की भी एक सीमा है। उस सीमा के आगे जो तथ्य है, वह विज्ञान से परे है, अहिंसात्मक है। जब तक हम इस सत्य को नहीं समझ लेते, शान्ति और सुख की उपलब्धि सम्भव नहीं है। विज्ञान के साथ धर्म को जोड़ना होगा। आइन्स्टीन ने कहा था—"विज्ञान बिना धर्म के लंगड़ा है और धर्म बिना विज्ञान के अंधा है।" अहिंसा सर्व-धर्मोंका सार है।

जो देश हिंसक शस्त्रों का निर्माण और संचय करते हैं, यही कहते हैं—हथियार विश्व-शान्ति के लिए आवश्यक है, युद्ध निराकरण के लिए जरूरी है। जो आतंकवादी निरपराध का निरंकुश संहार करते हैं और अपने जीवन पर खेलकर भी सामाजिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करते हैं, यही सोचते हैं कि वे अपनी जाति की प्रगति और शान्ति के लिए लड़ रहे हैं। जो धर्म की रक्षा के लिए अन्य धर्मों पर प्रहार करते हैं, यही मानते है कि वे नैतिकता की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं। कितना अज्ञान और कितनी भ्रान्ति? बर्बरता से मानवता नहीं पनप सकती। अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए दूसरों के अधिकारों को नहीं छीना जा सकता। किसी भी समस्या के समाधान में हिंसा का प्रयोग, ऐसी अन्य समस्याओं को जन्म देता है, जो पहले से अधिक भयंकर होती हैं। इतिहास इसका साक्षी है। समाज व्यक्ति से ऊपर है। मानवता देश-प्रेम से बढ़कर है। मैत्री बिना त्याग के सम्भव नहीं है। सह-अस्तित्व के लिए सहनशीलता अवश्यंभावी है। अनेकान्त का सापेक्ष दृष्टिकोण अपनाना होगा। बल प्रयोग से न केवल निर्बल, बल्कि शक्तिवान भी नष्ट हो जायेंगे। मानवाधिकार प्राप्त करने के लिए, सब प्राणियों का सम्मान करना होगा। कानून और दण्ड के आधार पर अपराधी को समाप्त किया जा सकता है, पर अपराध को नहीं। अहिंसा के प्रयोग द्वारा उनका हृदय-परिवर्तन करना होगा। आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए और सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए विसर्जन उतना ही आवश्यक है जितना अर्जन। जब तक भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय नहीं होगा, शरीर, मन और चित्त का संतुलन नहीं होगा, विज्ञान का सारा विकास निरर्थक है। जब तक अहिंसा का सही अर्थ समझ में नहीं आयेगा, अहिंसा की अपार शक्ति का प्रयोग नहीं होगा; विश्व-शान्ति स्थापित करने में, सामाजिक न्याय दिलवाने में और वैयक्तिक आनन्द प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकते।

डॉ. बच्छराज दूगड़ की इस कृति में ऐसे अनेक विचारों का सुन्दर विवरण दिया गया है। अहिंसा की शिक्षा और उसके प्रयोग पर अधिकाधिक साहित्य की आवश्यकता है। आशा है इस प्रकाशन से इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में एक और कड़ी जुड़ेगी।

डॉ. दूगड़ जैन विश्व भारती संस्थान में लम्बे समय से अहिंसा व शांतिशोध विभाग में एक प्रभावशाली आचार्य की भूमिका निभा रहे हैं। यह प्रयास उनके गहन अध्ययन और श्रम का फल है।

मेरी कामना है कि अहिंसा और शान्ति शोध की शिक्षा देश-विदेश के प्रत्येक विश्वविद्यालय में प्रारम्भ की जाये। सम्भवतः इससे शिक्षा में चरित्र निर्माण का जो अभाव है, उसकी पूर्ति हो सके तथा शिक्षा विश्व-शान्ति और मैत्री स्थापित करने में सहायक/सार्थक हो सके।

—मोहन सिंह भण्डारी

पूर्व कुलपति, जैन विश्व भारती संस्थान

मान्य विश्वविद्यालय

लाडनूं—341306

विषय-सूची

संघर्ष
एवं
संघर्ष निराकरण

संघर्ष एवं संघर्ष निराकरण

संघर्ष मानव सम्बन्धों में सतत रहने वाली एक प्रक्रिया है। जब व्यक्ति व्यक्ति के बीच सहयोग नहीं होता अथवा जब वे एक दूसरे के प्रति तटस्थ भी नहीं होते, तो संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो ही जाती है। संघर्ष को समाज में अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि जब सीमित लक्ष्यों को अनेक व्यक्ति प्राप्त करना चाहें तो संघर्ष स्वाभाविक ही है।

Conflict शब्द लेटिन भाषा के Con+Fligo से मिलकर बना है। Con का अर्थ है together तथा Fligo का अर्थ है—To Strike. अत. संघर्ष का अर्थ है—लड़ना, प्रभुत्व के लिए संघर्ष करना, विरोध करना, किसी पर काबू पाना आदि। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार—दो वर्गों में या समूहों के बीच सशस्त्र प्रतिरोध, लड़ाई या युद्ध संघर्ष है। विपरीत सिद्धान्तों, कथनों, तर्कों आदि से विरोध भी संघर्ष है तथा विचारों, मतों और पसन्द के बीच असामंजस्यपूर्ण व्यवहार भी संघर्ष है।

गिलीन एवं गिलीन के अनुसार—संघर्ष वह सामाजिक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अथवा समूह अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विरोधी के प्रति प्रत्यक्ष हिंसा या हिंसा की धमकी का प्रयोग करते हैं। अर्थात् किसी साध्य प्राप्ति हेतु किये जाने वाले संघर्ष की प्रकृति में ही विरोधी के प्रति घृणा और हिंसा की भावना विद्यमान होती है। प्रो. ग्रीन के अनुसार—"संघर्ष जानबूझकर किया गया वह प्रयत्न है, जो किसी की इच्छा का विरोध करने, उसके आड़े आने अथवा उसको दबाने के लिए किया जाता है।" अर्थात् ग्रीन महोदय ने हिंसा व आक्रमण के साथ उत्पीडन को भी संघर्ष का एक प्रमुख तत्त्व स्वीकार

किया है। किंग्सले डेविस ने प्रतिस्पर्धा को ही संघर्ष माना है। उनके अनुसार प्रतिस्पर्धा व संघर्ष में केवल मात्रा का ही अन्तर है।

क्या संघर्ष आवश्यक है ?

मूलतः यदि देखा जाए तो संघर्ष परिवर्तन का एक साधन है। परिवर्तन की आवश्यकता और इच्छा को झुठलाया नहीं जा सकता और हमें यह भी स्वीकार करना ही होगा कि परिवर्तन के साधनों से ही परिवर्तन होगा। अतएव हमें संघर्ष को सदैव हिंसक रूप में ही न देखकर उसे परिवर्तन के संदर्भ में भी देखना चाहिए। यह धारणा या विचार मिथ्या है कि "संघर्ष नैतिक रूप से गलत व सामाजिक रूप से अनचाहा है। संघर्ष सदैव त्याज्य या विध्वंसात्मक ही नहीं होता, यह समूहों के बीच तनाव को समाप्त भी करता है, जिज्ञासाओं व रूचियों को प्रेरित करता है तथा यह एक ऐसा माध्यम भी हो सकता है जिसके द्वारा समस्याएं उभारकर उनके समाधान तक पहुंचा जा सकता है अर्थात् यह व्यक्तिगत और सामाजिक परिवर्तन का आधार भी हो सकता है। संघर्ष का अनिवार्यतः यह अर्थ नहीं है कि यह समुदाय व सम्बन्धों के टूटने का कारण है। कोजर ने सामाजिक संघर्षों की महत्ता को प्रकाशित करते हुए लिखा है—संघर्ष असन्तुष्टि के स्रोतों को खत्म कर तथा परिवर्तन की आवश्यकता की पूर्व चेतावनी तथा नवीन सिद्धान्तों का परिचय देकर समुदाय पर एक स्थिर एवं प्रभावशाली छाप छोड़ता है।

अतः संघर्ष की दो स्थितियां है—

1 न्यायोचित लक्ष्य के लिए प्रतिस्पर्धा में शामिल होना एवं

2. ऐसा लक्ष्य जो न्यायोचित नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए प्रतिस्पर्धा में शामिल होना।

प्रथम यथार्थवादी संघर्ष है, जो एक विशेष परिणाम की प्राप्ति के लिए होता है। इसलिए यह संघर्ष या तो मूल्यों की संरक्षा के लिए या उन जीवनदायिनी चीजों के लिए होता है जिनकी आपूर्ति कम होती है।

उपर्युक्त अर्थ में संघर्ष कुछ परिणाम की प्राप्ति का साधन है। समाजशास्त्रियों का मानना है—संघर्षविहीन समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मेक्स वेबर के अनुसार—"सामाजिक जीवन से हम संघर्ष को अलग नहीं कर सकते। हम जिसे शांति कहते हैं वह और कुछ नहीं है अपितु संघर्ष के प्रकार व उद्देश्यों तथा विरोधी में परिवर्तन है।" रोबिन विलियम्स के अनुसार—किसी भी परिस्थिति में हिंसा पूर्ण रूप से उपस्थित या अनुपस्थित नहीं हो सकती। यहां भगवान् महावीर की दृष्टि ज्ञातव्य है—उनके अनुसार समाज केवल हिंसा या केवल अहिंसा के आधार पर नहीं चल सकता। प्रो. महेन्द्र कुमार के अनुसार—हिंसा की पूर्ण अनुपस्थिति असंभव है क्योंकि अंतर्राष्ट्रीय समाज से संघर्ष का पूर्ण विलोपन सम्भव नहीं है और न ही यह वांछनीय है क्योंकि हिंसा की अहिंसक-समाज निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका है या हो सकती है। अतएव संघर्ष को नियंत्रित या इच्छित दिशा में गतिशील किया जा सकता है, उसे पूर्ण रूप से हटाया नहीं जा सकता।

महात्मा गांधी ने भी संघर्ष की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। जे. डी. टाय ने जब गांधीजी से यह पूछा—बापू! आप तमाम उम्र संघर्ष करते रहे हैं (ब्रिटिश लोगों से), उनके चले जाने के बाद आपकी संघर्ष की आदत का क्या होगा ? क्या आप इसे छोड़ देंगे ? गांधीजी का उत्तर था—नहीं मैं इसे अपने जीवन से कभी अलग नहीं कर सकता। लेकिन गांधीजी ने कार्लमार्क्स की तरह संघर्ष को सामाजिक कानून के रूप में नहीं माना। उन्होंने संघर्ष की अहिंसक पद्धति विकसित करने पर बल दिया।

द्वितीय अयथार्थवादी संघर्ष है जो ऐसे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है जिन्हें किसी भी परिस्थिति में न्यायोचित नहीं कहा जा सकता। जैसे उग्रवादी हिंसा। ऐसा कोई भी संघर्ष अथवा इसके लिए किये जा रहे प्रयत्न सदैव त्याज्य हैं।

विध्वंसात्मक बनाम उत्पादक संघर्ष

संघर्ष विध्वंसात्मक भी हो सकता है और उत्पादक भी। एक संघर्ष को उस समय विध्वंसात्मक कहा जा सकता है जब इस संघर्ष

में सहभागी व्यक्ति इसके परिणामों से असंतुष्ट हों तथा वे यह अनुभव करते हों कि संघर्ष के परिणामस्वरूप उन्होंने कुछ खोया है। यही उत्पादक होगा, जब संघर्ष में सहभागी व्यक्ति इसके परिणामों से संतुष्ट हों तथा वे यह अनुभव करते हों कि संघर्ष के परिणामस्वरूप उन्होंने कुछ प्राप्त किया है।

दृष्टिकोण, व्यवहार और संघर्ष

विध्वंसात्मक दृष्टिकोण और व्यवहार को संघर्ष के समकक्ष या संघर्ष मानना भ्रामक है। तीनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। संघर्ष एक प्रकार से विरोध व एक ऐसा लक्ष्य है जो दूसरे की लक्ष्य प्राप्ति में बाधक है। सामान्य रूप से संघर्ष के दो रूप हैं—

1. समाज के विभिन्न समूहों की वस्तुनिष्ठ रूचियों में भेद एवं
2. सामाजिक गतिविधियों के आत्मनिष्ठ लक्ष्यों में विरोध।

दृष्टिकोण व व्यवहार जब संघर्ष से जुड़ जाते है तब उन्हें निषेधात्मक दृष्टिकोण व व्यवहार कहा जाता है। इस प्रकार के निषेध अचानक घृणा या प्रत्यक्ष हिंसा के रूप में प्रकट होते हैं। जातीय और प्रजातीय संघर्षों में सामाजिक दूरी पूर्वाग्रहों के कारण होती है जबकि संरचनात्मक हिंसा में यह भेदभाव के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार संघर्ष का जो स्वरूप उभरता है, उसे हम इस प्रकार दर्शा सकते हैं—
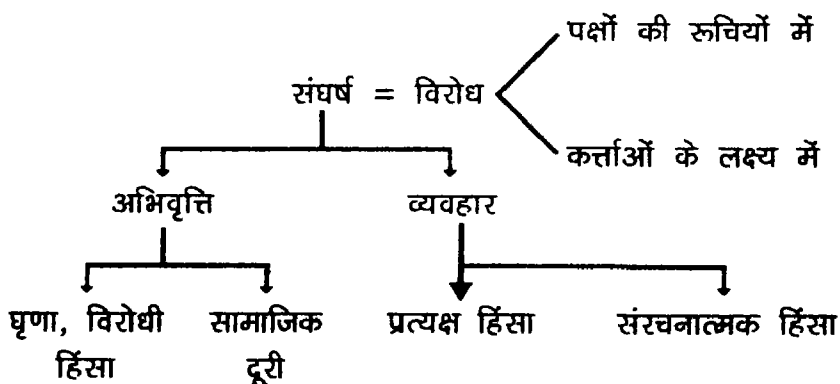
सम्बन्ध न होने की अपेक्षा संघर्षपूर्ण सम्बन्ध अच्छे हैं

प्रसिद्ध उक्ति है—'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।' अन्याय से घृणा या विरोध आवश्यक है क्योंकि यह अन्याय के संस्थाकरण को रोकता है लेकिन अन्यायी से घृणा संबंधों के सुधार को रोकता है। इसी संदर्भ में यह कहा जा सकता है—संघर्ष पर आधारित सम्बन्ध किसी प्रकार के संबंध न होने से अच्छे हैं। मेरे और आपके बीच संघर्ष यह दर्शाता है कि कोई एक चीज हम दोनों में सामान्य है। हमारी समस्या मेरी और आपकी है इसलिए हम इस समस्या से लड़ें न कि एक दूसरे से। संघर्ष के सावधानीपूर्ण प्रयोग से समाज में सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं। इस निष्कर्ष पर पहुंचने के दो आधार हैं—

1. मानवीय एकता
2. कर्त्ता बनाम व्यवस्था

प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे से अनेक बन्धनों व सामाजिक सम्बन्धों से जुड़े हैं। उनके बीच के सम्बन्ध सामंजस्यपूर्ण हैं तो वे उन्हें प्रदर्शित कर और अधिक प्रगाढ कर सकते हैं। यदि उनके बीच सामंजस्य नही है तो हम उन्हें यह समझा सकते हैं कि सामंजस्यपूर्ण संबंध मानवीय एकता के लिए आवश्यक है। यदि उनके बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध ही नहीं हैं, तो यह मानवीय एकता का बहिष्कार है।

किसी व्यक्ति के अन्यायी बनने में परिस्थितियों व व्यवस्था का भी योगदान होता है। सम्बन्धों को स्वीकार न करना अन्यायी की अस्वीकृति है जबकि असामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों का स्वीकरण व्यवस्था व व्यक्ति सुधार की दिशा में प्रस्थान है।

संघर्ष का आधार

संघर्ष का मूल कारण व्यक्ति की अनन्त इच्छाएं या लोभ की प्रवृत्ति है। जैन दर्शनानुसार इच्छा-विस्तार समस्त बुराइयों की जड़ है। इच्छाओं की पूर्ति हेतु दूसरों का शोषण होगा। अर्जित पदार्थों

के संरक्षण हेतु शस्त्रीकरण होगा जो अन्ततः युद्ध या हिंसा को जन्म देगा। सुकरात ने कहा था—लोग सरल जीवन पद्धति से संतुष्ट नहीं होंगे, वे अपनी इच्छाओं का विस्तार चाहेंगे ...... दूसरे भी ऐसा ही चाहेंगे ...... परिणाम होगा—युद्ध।

मूलतः संघर्ष तब होता है, जब इच्छा पूर्ति हेतु विरोधी क्रियाएं घटित होती हैं। जब दो व्यक्ति वह कार्य करना चाहें जो परस्पर विरोधी है तो तनाव स्वाभाविक है क्योंकि इससे दूसरे व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्रों की इच्छा पूर्ति में बाधा उत्पन्न होती है। समग्र इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्न तो दूसरों की अतृप्ति की कीमत पर ही किये जा सकते हैं। सामान्य रूप से संघर्ष के तीन आधार वर्णित किये जा सकते हैं—

1. एक या अधिक पक्ष
2. पक्षों के बीच सम्बन्ध
3. वह व्यवस्था या तंत्र जिसमें ये पक्ष कार्य करते है।

अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों में संघर्ष का मुख्य कारण वर्गों के बीच तनाव, नृजातीय स्थितियों तथा सांस्कृतिक प्रारूपों की भिन्नता है। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में व्यक्तियों का राष्ट्रीय चरित्र व राजनैतिक ढांचा संघर्ष के मुख्य कारण बनते हैं।

विभिन्न पक्षों के बीच सम्बन्ध यदि असमानताओं पर आधारित हों, जैसे—राजनैतिक शक्ति में असमानता, सम्पत्ति का असमान वितरण, विरोधी धर्म और वैचारिक परम्पराएं, मूल्यों की भिन्नता आदि, तो ये भी संघर्ष के मुख्य कारण बनते है।

जिस व्यवस्था में विभिन्न पक्ष कार्य करते है, उसमें खुली राजनैतिक एवं स्वतंत्र न्यायायिक व्यवस्था अपेक्षित है। ऐसी व्यवस्था मतभेदों को दूर करने के साधन उपलब्ध करवा सकती है तथा असमानता एवं मूल्य सम्बन्धी भेदों को और अधिक गहरा होने से रोक कर संघर्ष के संस्थाकरण को रोका जा सकता है।

व्यवस्था के विभिन्न पक्षों में एकता परस्पर निर्भरता के स्तर, संगति एवं समानता पर निर्भर करती है। जितनी अधिक एकता होगी, असंतुष्टि उतनी ही कम होगी तथा संघर्ष भी कम होंगे। परस्पर निर्भरता के अभाव में एकता का भी अभाव होगा तथा असंतुष्टि एवं संघर्ष अधिक होंगे।

व्यवस्था के आंतरिक कारक जैसे—वैचारिक भिन्नताएं, आर्थिक विषमता, नौकरशाही आदि भी संघर्ष के लिए आधार बनते है।

संघर्ष के प्रकार

प्रो. सिम्मेल ने संघर्ष को चार प्रकारों में विभाजित किया है—

1 युद्ध (War)

2. पुश्तैनी कलह (Feud of Factional Strife)

3 मुकदमेबाजी (Ligitation)

4 मत वैभिन्य का संघर्ष (Conflict of impersonal ideas)

प्रो गिलीन एवं गिलीन ने संघर्ष के पांच प्रकारों की व्याख्या की है जिनमें उपर्युक्त प्रकार प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से समाहित हो जाते है।

1. व्यक्तिगत संघर्ष (Individual Conflict)

परस्पर विरोधी लक्ष्यों को लेकर दो व्यक्तियों के बीच होने वाले संघर्ष को व्यक्तिगत संघर्ष कहा जा सकता है। संघर्षशील लोगों में व्यक्तिगत घृणा, द्वेष, क्रोध, शत्रुता आदि होती है तथा स्वयं के हितों के लिए दूसरे को शारीरिक हानि पहुंचाने अथवा नष्ट तक कर देने की तत्परता होती है।

व्यक्तिगत संघर्ष आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार के होते है। आंतरिक कारकों में व्यक्ति की कुण्ठा, स्वार्थवृत्ति, तथा रूचियों की प्राथमिकता के निर्धारण का प्रश्न प्रमुख कारण होते है। बाह्य कारकों में व्यक्तियों की रूचियों में टकराहट ही प्रमुख रूप से कारण बनता है।

2. प्रजातीय संघर्ष (Racial Conflict)

कभी-कभी कुछ प्रजातियां दूसरों पर शासन करना अपना अधिकार मानती हैं जिसके परिणाम स्वरूप अन्य प्रजातियों से उनका संघर्ष हो जाता है। अमेरिका में नीग्रो और श्वेत प्रजाति, श्वेत और जापानी प्रजाति तथा अफ्रीका में श्वेत और काली प्रजाति के बीच हिंसात्मक घटनाएं होती रही है। प्रजातीय श्रेष्ठता या हीनता इस प्रकार के संघर्ष का प्रमुख कारण बनती है।

प्रगति के बावजूद प्रजातीय भेदभाव—राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में कानून के रूप में तथा व्यवहार में जातीय भेदभाव के रूप में विद्यमान है। प्रजातीय भेदभाव—भेदभाव करने वाले तथा उससे प्रभावित दोनों ही पक्ष के लिए हानिकारक है।

प्रजातीय भेदभाव के अनेक रूप है। कहीं पर यह सरकारी नीतियों से संपुष्ट है तो कहीं प्रच्छन्न रूप में, जिससे विभिन्न वर्गों के बीच विषमता पाई जाती है। राजनैतिक क्षेत्र में विश्व के किसी भी देश में प्रजातीय भेदभाव को मान्यता नहीं है परन्तु कुछ राष्ट्रों में वहां की नीतियों एवं परिस्थितियो के कारण सभी लोगों को मत देने, सरकारी सेवा में प्रवेश पाने एवं सार्वजनिक पदों के लिए चुनाव लडने का अधिकार नहीं है। आर्थिक क्षेत्र में प्रजातीय भेदभाव के परिणाम स्वरूप कुछ विशेष प्रजाति के लोग कम वेतन पर मजदूर के रूप में सदैव उपलब्ध रहते हैं। प्रजातीय भेदभाव सार्वजनिक स्थान, स्वास्थ्य तथा चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं, सामाजिक सुरक्षा एवं पारस्परिक सम्बन्धों में भी देखा जा सकता है। सांस्कृतिक क्षेत्र में यह भेद-भाव जीवन-स्तर की विभिन्नता से जन्म लेता है।

भेदभाव की यह भावना उन समाजों में अधिक पाई जाती है जहां सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में बहुत अधिक विरोधाभास होता है। नस्ल, रंग तथा वंश की दृष्टि से जिन राष्ट्रों में अलगाव की भावना है एवं जहां संस्कृति, रीति-रिवाज एवं परम्पराओं

के कारण भिन्नताएं हैं, वहां की स्थितियां वास्तव में ही सोचनीय है। जातीय पृथक्करण की नीतियां विश्व के लिए एक बडा कलंक है।

3. वर्ग-संघर्ष (Class Conflict)

वर्ग संघर्ष का इतिहास मानव जाति का इतिहास है। प्राचीनकाल में मालिक व दास, मध्ययुग में सामन्त व सेवक तथा कामदार, आधुनिक युग में मजदूर व पूंजीपति आदि वर्ग रहे हैं, क्योंकि विभिन्न समूहों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में परस्पर भिन्नताएं पाई जाती है, फलतः उनके जीवन प्रतिमान एक-दूसरे से मेल नहीं खाते और ये समूह कालान्तर में विभिन्न वर्गों का रूप ले लेते हैं। प्रत्येक वर्ग सामाजिक एवं आर्थिक उपयोगिता की दृष्टि से स्वयं को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। इस प्रकार की स्थिति उनके बीच विवादों व संघर्ष को जन्म देती है। श्रमिक व पूंजीपति, जमींदार व कृषक, उच्च व निम्न आदि वर्ग इसके उदाहरण है। वर्ग संघर्ष विश्व के सभी समाज में पाया जाता है। कार्लमार्क्स ने कहा था—"समाज सदैव दो आर्थिक वर्गों में बंटा रहेगा—शोषक व शोषित। ये वर्ग सदैव एक-दूसरे के साथ संघर्षरत रहेगे जब तक कि वर्ग-विहीन समाज की स्थापना न हो जाए।"

4. जातीय संघर्ष (Caste Conflict)

जातीय संकीर्णता आज सामाजिक संघर्षो का एक प्रमुख कारण बनी है। हम कुछ जातीय पूर्वाग्रहों का पालन करते हैं क्योंकि इनसे हमें सुरक्षा, प्रतिष्ठा तथा मान्यता जैसी कतिपय गहन आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है। यद्यपि कानूनी रूप से विभिन्न जातियों के बीच ऊंच-नीच की भावना को स्वीकार नहीं किया गया है फिर भी ऊंच-नीच की भावना के कारण विभिन्न जातियों में बैर-भाव रहता है तथा जातीय संघर्ष चलते रहते हैं। भारत में जातीय तनाव अधिक देखने को मिलता है। जैसे मणिपुर में नागा व कुकी जाति का विवाद, बिहार

में लाला व ब्राह्मण जाति का विवाद आदि-आदि। इन जातीय विवादों के कारण आज भारतीय राजनीति का मुख्य आधार ही जातिवाद बन गया है, जिससे सामान्य जनता सदैव आपसी संघर्षों में उलझी रहती है।

5. राजनैतिक संघर्ष (Political Conflict)

राजनैतिक संघर्षों के दो रूप है—राष्ट्रीय संघर्ष एवं अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष। जातिवाद, साम्प्रदायिक तनाव, राजनैतिक तनाव, उग्रवाद, पृथक्करण, विभाजन आदि राष्ट्रीय संघर्षों के प्रमुख कारण बनते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की अभिव्यक्ति के भी अनेक रूप है, जैसे घृणा तथा आक्रामकता की अभिवृत्ति, जिसके फलस्वरूप समाचार पत्रों, रेडियो व दूरदर्शन पर भडकीले समाचार प्रसारित कर मनोवैज्ञानिक युद्ध किया जाता है। स्वजातिवाद की पृष्ठभूमि भी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का एक प्रमुख कारण है। अडोर्नो ने यह दर्शाया है—जिन व्यक्तियों में यह सोचने की अतिरंजित प्रवृत्ति है कि उनका अपना समूह अथवा जाति अन्य जातियों से अत्यन्त श्रेष्ठ है, उनका सामान्य दृष्टिकोण रुढिवादी होता है तथा वे शक्ति की प्रशंसा व पराजितों से घृणा करते है जिससे वे दूसरों को अपने समान स्थान देने को तैयार नहीं होते। फलत विदेशियों व अल्पसंख्यकों को हीन दृष्टि से देखा जाता है तथा उनमें असुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है। इससे सैनिक संगठनों को बल मिलता है। राष्ट्रवादी अभिवृत्तियों के साथ-साथ अन्य देशों के प्रति प्रबल नकारात्मक भावना हो और प्रबल अन्तर्राष्ट्रीय भावना का अभाव हो तो उस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न हो ही जाता है और वह स्थिति शांति तथा एकता की बजाए युद्ध की प्रेरक होती है।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त वैचारिक भिन्नताएं, विस्तारवादी नीतियां, व्यापारिक एवं सीमा विवाद, अस्त्र-शस्त्र आदि भी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के प्रमुख कारण बनते है।

संघर्ष की प्रक्रिया

कुण्ठा, अन्याय, आक्रामकता व परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का निरन्तर भय, संघर्ष के लिए जिम्मेदार कहे जा सकते हैं।

कुण्ठा—फ्रायड ने व्यक्ति के अन्दर एक ऐसी अचेतन शक्ति की परिकल्पना की है जिसके कारण वह युद्ध का स्वागत करता है। फ्रायड का मत है कि निराशा के कारण मनुष्य एक ऐसे अवरुद्ध आक्रमण के लिए प्रेरित होता है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक ऐसा मार्ग ढूंढने का प्रयत्न करता है जो सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत हो और उसके अहं को भी स्वीकार्य हो।

सामान्य रूप में निराशा को उत्पन्न करने वाली तीन मुख्य स्थितियां है—

1. प्रतिकूल वातावरण द्वारा प्रस्तुत बाह्य बाधाएं, जो व्यक्ति को अपने लक्ष्य प्राप्ति से रोकती है।

2 मनुष्य के पराहं द्वारा प्रस्तुत आंतरिक बाधाएं जो उसकी अस्वीकार्य प्रवृत्तियों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति को रोकती है, तथा

3 दो पारस्परिक विशिष्ट प्रवृत्तियों का एक साथ उत्प्रेरण, जहां पर एक व्यक्ति की संतुष्टि से दूसरे व्यक्ति के तात्कालिक संतोष में बाधा पड़ती है।

उपर्युक्त तीनों ही स्थितियां व्यक्ति की कुण्ठा के लिए जिम्मेदार है, जो अन्ततः संघर्ष को जन्म देती है।

अन्याय—सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में किया जाने वाला अन्याय भी संघर्ष की प्रक्रिया को जन्म देता है। अन्याय की निरन्तरता प्रतिशोध व विवादों को जन्म देती है तथा व्यक्ति, समाज व राष्ट्र संघर्षरत हो जाता है।

आक्रामकता—कुण्ठाग्रस्त व्यक्ति प्रतिक्रिया स्वरूप आक्रामक हो जाता है। आक्रामकता उसका व्यवहार व आदत बन जाती है। सामाजिक व राजनैतिक संघर्षों में आक्रामकता एक प्रमुख कारण बनती है।

परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का भय—आणविक अस्त्रों ने अपने प्रारंभिक काल से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उथल-पुथल शुरू कर दी थी। परिणाम स्वरूप उस समय की महाशक्तियों के बीच परस्पर अविश्वास की वृद्धि और शीतयुद्ध को प्रोत्साहन मिला। आणविक शक्ति से सम्पन्न होने की लालसा ने ही शस्त्रीकरण की दौड़ को जन्म दिया तथा सैनिक गुटों के निर्माण का भी एक कारण बना। एशिया और अफ्रीका के देश भी आणविक कूटनीति से बच न सके तथा विश्व के देशों की सैनिक व्यूह रचना ही बदल गई।

आणविक अस्त्रों की सैनिक कूटनीति ने विश्व की अर्थव्यवस्था पर भी प्रभाव डाला। विकासशील राष्ट्रों की राष्ट्रीय आय का एक बड़ा हिस्सा शस्त्रीकरण में खर्च होने लगा। विश्व का सैनिक खर्च जो प्रारंभ में 25 बिलियन डॉलर था, आज यह 900 बिलियन डॉलर से भी अधिक हो गया है। अतएव परमाणु कूटनीति आज पूरे विश्व पर हावी है तथा विश्व को निरन्तर संघर्षरत रखे हुए है।

संघर्ष का विकास माइक्रो व मेक्रो दोनों ही स्तर पर होता है। माइक्रो स्तर पर संघर्ष का विकास तब होता है जब एक व्यक्ति स्वयं के व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में समूह के व्यवहार को देखता है। प्रारंभिक मनोवैज्ञानिक अध्ययनों में व्यक्तियों के व्यवहार को समूह-संघर्षों का प्रमुख कारण माना गया। समकालीन संघर्षों में भी व्यक्तियों के व्यवहार की अहम भूमिका स्पष्ट है।

समाजशास्त्री, मानवशास्त्री तथा राजनीतिज्ञों एवं संगठन तथा संचार सिद्धान्तों ने संघर्ष की मेक्रो दृष्टि को ग्रहण किया। इन्होंने संघर्ष को एक ऐसी स्थिति माना है जिसमें एक विशेष समूह दूसरे का सक्रिय प्रतिद्वन्द्वी बनता है। अर्थात् व्यक्तिगत स्तर पर व्यक्तिगत व्यवहार तथा समूह के स्तर पर समूहों का परस्पर विरोध संघर्ष के विकास का प्रमुख कारण है।

संघर्ष निराकरण

संघर्ष के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् संघर्ष निराकरण या

कलह-शमन पर भी विचार उपयुक्त होगा। संघर्ष-निराकरण का अर्थ संघर्ष-विलोपन (Conflict elimination) नहीं है। इसका अर्थ है— निराकरण का सही रास्ता। प्रो. महेन्द्रकुमार के अनुसार—संघर्ष निराकरण का अर्थ है—आन्तरिक एवं समूहों के बीच संघर्षों का शांतिपूर्ण समाधान। चूंकि संघर्ष के मूल में व्यक्ति या समूह के विश्वास व दृष्टिकोणों की अहं भूमिका है, इसलिए निराकरण का स्वरूप गलत विश्वास व दृष्टिकोण को बदलने में ही निहित है।

अभिवृत्ति परिवर्तन और संघर्ष निराकरण

हाल ही के वर्षों में इस बात की ओर व्यापक रुचि रही है कि अपने देश की जनता की अभिवृत्तियों तथा दूसरे देशों की जनता के प्रति अपनी अभिवृत्तियों में क्रियाशील होकर परिवर्तन लाए जायें। विभिन्न सरकारें भी लोगों की अभिवृत्तियों को बदलने के लिए प्रयत्नशील हैं। 1930 में अमेरिका में रुजवेल्ट ने आर्थिक समस्याओं से निपटने के लिए कर्मचारियों तथा किसानों के प्रति वहां के लोगों की अभिवृत्तियों में भारी परिवर्तन किये। भारत में गांधीजी ने उन लाखों लोगों की अभिवृत्तियों को बदलने का विशाल कार्य हाथ में लिया जो अंग्रेजी शासन के प्रति या तो उदासीन थे या भयभीत। उन्होंने स्वराज तथा प्रजातंत्र के प्रति अनुकूल अभिवृत्ति व विदेशी शासन के विरूद्ध अभिवृत्ति निर्माण के प्रयत्न किये तथा साथ ही अंग्रेजों की अभिवृत्ति बदलने का भी प्रयत्न किया ताकि वे उपनिवेशवादी नीति का अंत करने के अनुकूल हो सकें तथा अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को टाला जा सके। जातीय संघर्षों को समाप्त करने की दृष्टि से उन्होंने हिन्दुओं व मुसलमानों की अभिवृत्ति परिवर्तन के प्रयास किये ताकि वे एक दूसरे के प्रति तथा हरिजनों के प्रति अनुकूल हो सकें। यह हमारी अभिवृत्तियों का व्यापक परिवर्तन ही है जिसके बल पर हमने एक राष्ट्र का निर्माण किया तथा स्वराज प्राप्ति के बाद की कठिनाइयों को झेल लिया।

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों व असमानताओं पर आधारित संघर्षों के निदान हेतु हाल ही में यह अभिवृत्ति विकसित हुई है कि

अल्प-विकसित राष्ट्रों का सहयोग करना विकसित राष्ट्रों का कर्त्तव्य है। उद्योगपतियों व पूंजीपतियों की अभिवृत्ति को बदलने के प्रयास भी हुए हैं ताकि वे व्यक्तिगत हित की जगह राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय हित के लिए कार्य कर सकें। राजनैतिक अभिवृत्तियों में भी परिवर्तन के फलस्वरूप आज प्रत्येक राष्ट्र की स्वतंत्रता तथा स्वायत्तता को महत्त्व मिला है तथा हर राष्ट्र के सरकार बनाने के अधिकार को स्वीकृति मिली है।

संघर्ष निराकरण के लिए अभिवृत्ति परिवर्तन हेतु मुख्य रूप से निम्नलिखित विधियों का प्रयोग किया जाता है—

1. **व्यक्तियों को बाह्य प्रभाव में रखकर उनमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन**—इस विधि में व्यक्तियों के किसी समूह का अभिवृत्ति परीक्षण किया जाता है, तत्पश्चात् समूह को एक विशेष प्रकार का अनुभव कराने के पश्चात् पुनः अभिवृत्ति परीक्षण किया जाता है। दोनों परीक्षणों के परिणामों में अन्तर अभिवृत्ति परिवर्तन को दर्शाता है।

2. **अन्योन्यक्रिया विधि**—इस विधि के अनुसार व्यक्ति में जिस तरह की अभिवृत्ति का निर्माण करना चाहते है, उसके अनुकूल सामाजिक परिवेश में उसे रखा जाता है। जहां उसे उस परिवेश में रह रहे लोगों से अन्योन्यक्रिया करने का अवसर मिलता है और इच्छित अभिवृत्ति का निर्माण सहज ही हो जाता है।

3. **समूह परिचर्चा**—परिचर्चा पद्धति में व्यक्ति की सक्रिय सहभागिता के कारण वह व्यक्तिगत रूप से उसके प्रति अनुरक्त हो जाता है तथा व्यक्तिगत निश्चय की अपेक्षा समूह निर्णय अनिवार्य रूप से पालनीय होते है। अभिवृत्ति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने के लिए यह आवश्यक है कि वैयक्तिक अहंमन्यता को सन्निहित किया जाए। ऐसा वैयक्तिक आवेष्टन सामाजिक स्तर पर परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के आदान-प्रदान द्वारा बढता है। परिणामस्वरूप अभिवृत्ति परिवर्तन भी समूह के प्रतिमानों के अनुकूल ही होता है।

4. भावनात्मक अपील—इस विधि में समूह के प्रतिमानों को ध्यान में रखकर उनके निर्माण में व्यक्ति के योगदान को बताकर उसके भावों को उभारा जाता है। यह मूलतः हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया है।

उपर्युक्त विधियों द्वारा हम किसी विषय या समस्या के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण में परिवर्तन कर सकते हैं अर्थात् जो व्यक्ति पहले जिस समस्या या विषय के प्रतिकूल थे, उनके सम्बन्ध में अब वे अनुकूल अभिवृत्ति वाले होने लगते हैं।

संघर्ष निराकरण की विधियां—

शांतिपूर्ण समाधान या कलह-शमन की दृष्टि से हिंसा या कानून पर आधारित तरीकों को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे स्थायी समाधान प्रदान नहीं करते। हिंसा या कानून का समाधान स्वैच्छिक नहीं, दबाव द्वारा स्वीकृत होता है। वार्त्ता, सामूहिक सौदेबाजी एवं संधियां आदि भी कलह-शमन के लिए प्रयुक्त होती हैं पर ये भी उपयोगितावादी होने के कारण नैतिक शक्ति नहीं रखते। गांधीजी की दृष्टि में हृदय परिवर्तन या नैतिक शक्ति द्वारा किया गया समाधान ही स्थायी होता है। मूलतः किसी भी विधि की उपयुक्तता का आकलन इस आधार पर किया जा सकता है कि निराकरण के पश्चात् दोनों पक्षों के बीच सम्बन्ध कैसे रहेंगे? प्रो. गाल्टुंग ने कलह-शमन हेतु गांधीवादी विधियों के चार आधार प्रस्तुत किये हैं—

1. संघर्ष या संघर्षरत पक्ष से अलग हो जाना (Decoupling)

संघर्ष निराकरण हेतु हमारा प्रथम प्रयास यह हो कि हम उससे अलग हो जाएं। असहयोग, अवज्ञा, सत्याग्रह आदि सम्बन्ध विच्छेद के उदाहरण हैं। सामाजिक, राजनैतिक या व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ना सतही कार्य हैं। मूलतः हमारा प्रयत्न मानवीय एकता के लिए होना चाहिए और इसके लिए हमारा विश्वास हृदय परिवर्तन में हो।

2. एकता (Integration)

सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक स्तर पर जो रुकावटें हैं, वे मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-रेखाएं बनाती है। चूंकि आध्यात्मिक स्तर पर हम एक है, इसलिए अहिंसा की शक्ति से ये भेद-रेखाएं दूर की जा सकती हैं।

3. समझौता (Compromise)

सत्याग्रह के आधार पर यदि हम जीत भी जाएं एवं हमारी बातें मान ली जाएं, फिर भी हमें समझौते के लिए तत्पर रहना चाहिए। इससे संघर्ष निराकरण के पश्चात् भी हमारे सम्बन्ध मधुर रहेंगे। यद्यपि ऐसा समझौता मूल्यों व मूलभूत तत्त्वों की कीमत पर नहीं होना चाहिए।

4. विरोधों का निराकरण (Resolution of incompatibility)

जिस संघर्ष के निराकरण की बात होती है, निश्चित ही उस संघर्ष की जड़ें गहरी नहीं होती। संघर्ष की वास्तविक जड़ें तो समाज-संरचना में छिपी होती है, इन्हें खत्म करने के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक ढांचे को ही बदलना पड़ता है। यह बदलाव धीरे-धीरे आता है तथा इसे अहिंसक साधनों से लाया जा सकता है।

संघर्ष निराकरण हेतु गांधीवादी विधियां—

1. प्रदर्शन (Demonstration)

अन्याय एवं सरकार के गलत कार्यों के विरुद्ध शिक्षित लोगों को संगठित करने का एक अच्छा साधन है—प्रदर्शन, जिसका सत्याग्रह में अपना एक विशिष्ट स्थान है। गांधी जी ने इसका प्रयोग 1908 में दक्षिणी अफ्रीका में रजिस्ट्रेशन सर्टिफिकेट एक्ट को जलाने के लिए, जलियांवाला बाग के विरोध में, दाण्डी यात्रा के रूप में, 1932 में द्वितीय अहिंसक असहयोग आन्दोलन में तथा 1942 में क्विट इण्डिया मूवमेंट के समय किया था।

2. पिकेटिंग (Picketing)

पिकेटिंग का उद्देश्य सरकार पर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक दबाव डालना है तथा लोगों के बीच राजनैतिक चेतना और स्वदेशी चेतना को जागृत करना है। पिर्केटिग पर बैठने वालों का कर्त्तव्य यह है कि वे जनमत की जागृति से उपयुक्त वातावरण को निर्मित कर प्रतिपक्षी को चेतावनी दें तथा हृदय-परिवर्तन कर वस्तुस्थिति को समझाएं। गांधी जी ने इसका प्रयोग 1907 में दक्षिणी अफ्रीका में तथा 1920-22 व 1930-34 के असहयोग आन्दोलन में किया।

3. बहिष्कार (Boycott)

बहिस्कार एक निषेधात्मक कार्यक्रम है, जिसे असहयोग के असफलज होने पर प्रयुक्त किया जाता है। इसमें सरकारी विद्यालयों, कॉलेजों, अदालतों, उपाधियों का बहिष्कार करने के साथ ही विदेशी सामान, वस्त्रों आदि का भी बहिष्कार किया जाता है। इस प्रकार पूर्ण रूप से बहिष्कार कार्यक्रम चलाकर शासन पर आघात किया जाता है। यद्यपि इस तरह के बहिष्कार से सरकार जागरूक हो जाती है तथा स्थिति की भीषणता का अनुमान लगा लेती है अतएव आंदोलनकारियों की सफलता संदिग्ध रहती है। इसीलिए गांधीजी देशहित की दृष्टि में इसे अनुचित मानते थे। उन्होंने अफ्रीका में ऑफिस तथा रजिस्ट्रेशन प्रमाण-पत्रों का बहिष्कार किया तथा भारत में 1905 व 1930 में विदेशी सामान, विदेशी सुविधाओं व विदेशी संस्थाओं का बहिष्कार किया।

4. हड़ताल (Strike)

हड़ताल का अर्थ है—स्वेच्छा से अथवा शीर्ष नेताओं के आह्वान पर सांकेतिक रूप से कार्य को स्थगित करना। श्रम समस्याओं के निराकरण हेतु गांधी जी ने हडताल को सत्याग्रह की एक पद्धति के रूप में विकसित किया। गांधी जी न्यायपूर्ण शिकायतों को दूर करने के लिए शांतिपूर्ण अहिंसक हड़तालों के विरोधी नहीं थे, पर ऐसी

कोई हड़ताल के पक्षधर नहीं थे, जो तोड़-फोड़ पर आधारित तथा औचित्य की दृष्टि से समर्थनीय न हो।

5. असहयोग (Non-cooperation)

गांधी जी के अनुसार—"असहयोग तत्त्वतः शोधन प्रक्रिया है। यह लक्ष्यों से कहीं अधिक कारणों का उपचार करता है। यह हमारे सामाजिक सम्बन्धों को विशुद्ध आधार पर अधिष्ठित करने का आन्दोलन है ताकि उनकी मीमांसा हमारे आत्मसम्मान एवं गौरव के अनुकूल की जा सके। यह अपने अंतिम विश्लेषण में कुछ सुविधा दे सकने वाली बुराई से सम्बन्ध विच्छेद करने के कारण उत्पन्न कष्टों का स्वेच्छया वरण है।" असहयोग विदेशी शासन, आततायी शासन तथा अराजकता का विकल्प है जिसमें व्यवस्था के साथ असहयोग किया जाता है ताकि शासन व्यवस्था सही ढ़ंग से न चल सके। गांधीजी मानते थे कि यदि अत्याचारी शासन को जनता का सहयोग मिलना बंद हो जाये तो उसकी जड़ें स्वतः ही हिल जायेंगी और वह धराशायी हो जायेगा। असहयोग नकारात्मक प्रक्रिया नहीं अपितु रचनात्मक प्रक्रिया है क्योंकि असहयोग के अंतर्गत जहां सरकारी विद्यालयों, अदालतों, विधानमंडलों, उपाधियों, विदेशी सामानों के बहिष्कार के द्वारा सरकार के सामने अपना विरोध प्रस्तुत किया जाता है, वहीं रचनात्मक कार्यो जैसे—देशी शिक्षण संस्थानों की स्थापना, स्वदेशी का प्रचार, साम्प्रदायिक सद्‌भावना का विकास व पिछडी जातियों के उद्धार पर भी जोर दिया जाता है। गांधी जी ने न्याय प्राप्ति हेतु इस विधि का 1920-22 व 1930-34 में सर्वाधिक सहारा लिया।

6. सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience)

"जब कानून बनाने वाले की गलती सुधारने की चेष्टाएं अर्जी आदि देने के बाद भी विफल हो जाती हैं तब यदि आप उस गलती के सामने सिर झुकाने के लिए तैयार नहीं हैं तो आपके सामने दो ही मार्ग हैं—या तो आप भौतिक शक्ति से उसे अपनी बात मानने

पर विवश कर दें या उस कानून को तोड़ने का दण्ड झेलकर व्यक्तिगत रूप से कष्ट वरण करें।'' इस अवज्ञा को सविनय इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह सापराध भावना से नहीं होती है। गांधीजी का सविनय अवज्ञा थोरो से अनुप्रेरित है। थोरो शुभ कार्य करने पर व्यक्तियों तथा संस्थाओं के द्वारा अधिकतम सहयोग तथा अशुभ कार्य करने पर असहयोग को सार रूप माना है। थोरो इसे निष्क्रिय की अपेक्षा सक्रिय विरोध के रूप में स्वीकार करते थे जबकि गांधी जी ने इसके अहिंसात्मक स्वरूप पर बल दिया। उन्होंने इसका सरकार की अन्यायपूर्ण नीतियों का विरोध करने तथा भारत के लिए स्वराज्य प्राप्ति हेतु किया। यह असहयोग की अपेक्षा उग्र पद्धति है जिसको सत्याग्रही असहयोग के सफल न हो पाने की स्थिति में प्रयुक्त करता है। यह एक तरह का अहिंसात्मक विद्रोह है इस कारण अंतिम विकल्प के रूप में ही इसे प्रयोग में लाया जाता है। 1920-22, 1930-34 व 1942-47 में गांधी जी ने इस विधि का प्रयोग स्वराज प्राप्ति के लिए किया था।

7. आत्मशुद्धि (Self-Purification)

आत्मशुद्धि में नैतिक शक्ति है जो विरोधी के हृदय पर सीधा प्रभाव डालती है तथा उसे अपनी गलतियों का मान कराती है। आत्मशुद्धि असहयोग प्रविधि की जड़ है। गांधी जी ने कहा था—''मैं इस आधारभूत निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि यदि तुम कोई सचमुच महत्त्वपूर्ण कार्य करना चाहते हो तो तुम्हें न केवल विवेक को सन्तुष्ट करना होगा बल्कि हृदय को भी प्रेरित करना होगा। बुद्धि का आवेदन मस्तिष्क के प्रति अधिक होता है किन्तु हृदय तक प्रवेश तपश्चर्या के द्वारा ही सम्भव है। इससे मनुष्य की आन्तरिक सहानुभूति उद्भूत होती है, इसलिए यह अधिक स्थायी है। ''आत्मशुद्धि का अर्थ है—न्याय एवं सत्य की चेतना एवं असत्य से स्वयं को अलग करने की शक्ति का संग्रह।'' यदि इसे उपलब्ध किया जा सके तो सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक सम्बन्ध स्वतः ही परिवर्तित हो जायेंगे।

8. हिजरत

जिस स्थान पर रहने से आत्म सम्मान को ठेस लगे तब स्वेच्छा से उस स्थान का त्याग कर देना हिजरत है। हिजरत को कायरता नहीं मानना चाहिए क्योंकि कुछ ऐसे लोग भी होते है जो हिंसा के प्रयोग की शक्ति नहीं रखते और न ही शोषक का सामना करने की सामर्थ्य रखते हैं। ऐसे लोग शोषण से भरा जीवन जीने को विवश होते हैं। ऐसे लोगों को गांधीजी अन्यत्र पलायन कर जाने की सलाह देते है।

उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त कलहशमन हेतु कुछ और गांधीवादी तरीके हैं, जैसे—करों का भुगतान न करना, समानान्तर सरकार आदि।

संघर्ष निराकरण की कूटनीतिक विधियां

गांधीवादी विधियों के अतिरिक्त संघर्ष निराकरण की कुछ कूटनीतिक विधियां भी हैं, जिनमें से कुछेक विधियों का उल्लेख आवश्यक है—

1. वार्ता (Negotiation)

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अर्थ में वार्ता एक वैधानिक, व्यवस्थित तथा प्रशासनात्मक प्रक्रिया है, जिसकी सहायता से राज्य सरकारें अपनी संदिग्ध शक्तियों का प्रयोग करते हुए एक-दूसरे के साथ अपने सम्बन्धों का संचालन करती हैं और मतभेदों पर विचार-विमर्श, उनका व्यवस्थापन तथा समाधान करती है।

2. विमर्श (Discussion)

इस विधि में दोनों पक्षों को एक ऐसा मंच प्रदान किया जाता है जहां वे स्वतंत्र रूप से लिखित या मौखिक अपने दावे या शिकायतें प्रस्तुत कर सकते हैं तथा द्विपक्षीय कूटनीति के माध्यम से ऐसी स्थिति में पहुंचा जा सकता है जहां विवाद के समाधानार्थ कोई समझौता हो सके।

3. विवाचन (Arbitration)

विवाचन का उद्देश्य दो विरोधी पक्षों में अविश्वास व अन्य रुकावटें दूर कर परस्पर एकता स्थापित करना है। विवाचन न्याय निर्णय है, इसमें समझौते का स्थान नहीं होता। प्रो. ओपनहीम के अनुसार—विवाचन का अर्थ है मतभेदों का समाधान कानूनी निर्णय द्वारा किया जाए। यह निर्णय दोनों पक्षों द्वारा निर्वाचित एक या अनेक पंचों के न्यायाधिकरण द्वारा होता है जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से भिन्न प्रकृति का है।

4. सामूहिक-सौदेबाजी (Collective Bargaining)

यह दो पक्षों के बीच विचार-विमर्श और बातचीत का एक ढंग है जिसमें आपसी समझौते द्वारा किसी समस्या का द्विपक्षीय हल खोजा जाता है।

उपर्युक्त कूटनीतिक विधियों के अतिरिक्त अन्जर्राष्ट्रीय स्तर पर कलह-शमन हेतु मंत्रणा (Counselling) अनुनय (Persuation) आदि विधियों का भी प्रयोग किया जाता है।

सघर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में संघर्ष निराकरण हेतु निम्नांकित सुझाव महत्त्वपूर्ण है—

क्षेत्र	निराकरण हेतु सुझाव
1. वैयक्तिक	व्यापक दृष्टिकोण
	उपवास व प्रायश्चित्त
	प्रत्यक्ष बातचीत को प्राथमिकता
2. प्रजातीय	वैज्ञानिक जानकारी के आधार पर जातीय भेद-भाव दूर करें
	शिक्षा-नीति में गतिशील परिवर्तन
	संयुक्त राष्ट्रसंघ व गैर सरकारी संगठन प्रयास करें

3. सामाजिक	उच्चकोटि के लक्ष्यों के लिए सहकारी ढंग पर कार्य उन आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों का उन्मूलन जिनके कारण व्यापक चिंता व विद्वेष फैलते हैं। बच्चे का समाजीकरण करें। उसे पूर्वाग्रहों में न पालें।
4. राजनैतिक	सह-अस्तित्व को प्रमुखता सम्बन्धों का पुनर्व्यवस्थापन संधियां एवं सहयोग।

संघर्ष एवं संघर्ष निराकरण हेतु गांधीवादी दृष्टि

प्रो. गाल्टुंग ने संघर्ष व संघर्ष निराकरण हेतु गांधीवादी दृष्टि को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

1. लक्ष्य व संघर्ष—

11. संघर्ष में कार्य करो।

* कार्य अभी करो।
* कार्य यहीं करो।
* अपने समूह के लिए कार्य करो।
* बिना पहचान के कार्य करो।
* परम्परा से हटकर कार्य करो।

12. संघर्ष को अच्छी तरह परिभाषित करें।

* स्वयं के लक्ष्यों को स्पष्ट करें।
* प्रतिपक्षी के लक्ष्यों को समझने का प्रयत्न करें।

* सामान्य और विरोधी लक्ष्यों पर जोर दें।
* संघर्ष से सम्बन्धित वस्तुनिष्ठ तथ्यों को स्पष्ट करें।

13. संघर्ष के लिए विधेयात्मक दृष्टि रखें।

* संघर्ष के विधेयात्मक पक्ष पर बल दें।
* संघर्ष को प्रतिपक्षी से मिलने के अवसर के रूप में देखें।
* संघर्ष को समाज रूपान्तरण के अवसर के रूप में देखें।
* संघर्ष को स्वयं के रूपान्तरण के अवसर के रूप में देखें।

2. संघर्ष

21. संघर्ष में अहिंसक रूप से कार्य करें।

* अपने कार्यों से चोट न पहुंचायें।
* अपने शब्दों से चोट न पहुंचायें।
* अपने विचारों से चोट न पहुंचायें।
* प्रतिपक्षी की सम्पत्ति को नष्ट न करें।
* कायरता को प्रश्रय न दें।
* बुरे व्यक्ति के लिए भी अच्छा करें।

22. लक्ष्यों के अनुरूप कार्य करें।

* सृजनात्मक तत्त्वों का समावेश करें।
* खुले रूप से कार्य करें, गुप्त रूप से नहीं।
* संघर्ष के सही बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करें।

23. बुराई से असहयोग करें।

* दोषपूर्ण संरचना से असहयोग।
* बुरे कार्यों से असहयोग।
* बुराई का सहयोग करने वालों से असहयोग।

24. आत्म बलिदान का भाव रखें।

* दण्ड से बचने का प्रयत्न न करें।
* यदि आवश्यक हुआ तो मरने के लिए तैयार रहें।

25. एक ही दिशा में न सोचें।

* प्रतिद्वन्द्विता और प्रतिद्वन्द्वी में भेद करें।
* व्यक्ति और उसके स्तर मे भेद करें।
* सम्पर्क बनाए रखें।
* विरोधी के स्तर का सम्मान करें।

3. संघर्ष निराकरण

31. संघर्ष का समाधान करें।

* संघर्ष सदैव के लिए न रखें।
* प्रतिद्वन्द्वी के साथ वार्ता के अवसर ढूंढें।
* विधेयात्मक सामाजिक रूपान्तरण के अवसर खोजें।
* मानवीय रूपान्तरण के अवसर खोजें।

32. मूलभूत तत्त्वों पर जोर दें।

* मूलभूल तत्त्वों से समझौता न करें।
* अन्य तत्त्वों के प्रति समझौते की इच्छा रखें।

33. स्वयं के प्रति भी शंका करें।

* आप भी गलत हो सकते है।
* अपनी त्रुटि को हृदय से स्वीकार करें।

34. प्रतिद्वन्द्वी के प्रति उदार बनें।

* प्रतिद्वन्द्वी की कमजोरियों का फायदा न उठायें।
* प्रतिद्वन्द्वी को स्वयं से अधिक कठोर न मानें।
* प्रतिद्वन्द्वी का विश्वास करें।

35. रूपान्तरण करें न कि बल प्रयोग।

* स्वयं तथा प्रतिद्वन्द्वी दोनों को स्वीकृत समाधान ही खोजें।
* प्रतिद्वन्द्वी को न दबायें।
* प्रतिद्वन्द्वी का हृदय परिवर्तन करें।

कलह शमन एवं आक्रामकता

मानवीय स्वभाव मुख्यतः दो प्रकार का है—अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। मनोविज्ञान में अन्तर्मुखी स्वभाव की दो विशेषताएं बतलाई गई हैं—मौन व्यक्तित्व व आक्रामक व्यक्तित्व। न्यू वेबस्टर डिक्शनरी के अनुसार आक्रामकता से अभिप्राय ऐसे व्यक्तित्व से है जो दूसरे पर कारण-अकारण आक्रमण करे। यह आक्रमण शारीरिक या अन्य रूपों में भी हो सकता है तथा व्यक्ति का स्वयं का भय, असुरक्षा, हीन भावना या ऐसे ही अन्य निषेधात्मक भाव भी इसके कारण हो सकते हैं। आक्रामक व्यक्ति अपनी जटिलताओं या कुण्ठाओं को दबाने हेतु आक्रामकता को साधन के रूप में प्रयोग करते हैं। उस समय वे अपने अवचेतन-मन द्वारा निर्देशित होते हैं, भले ही चेतना के स्तर पर उन्हें इसका ज्ञान न हो।

आक्रामकता के कारण

वे कारण या परिस्थितियां जो एक मनुष्य को आक्रामक प्रतिक्रिया करने को बाध्य करती है, निम्न हो सकती हैं—

1. कुण्ठा एवं हानिकारक उद्दीपक
2. इतिहास या अतीत
3. सामाजिक कारण
4. मनुष्य का स्वभाव।

कुण्ठा एवं हानिकारक उद्दीपक

विभिन्न प्रकार की कुण्ठाएं या हानिकारक उद्दीपक आक्रामकता के मुख्य कारण हो सकते हैं। फ्रायड ने व्यक्ति में एक ऐसी अचेतन

शक्ति की परिकल्पना की है, जिसके कारण वह युद्ध का स्वागत करता है। फ्रायड का मत है—'निराशा के कारण मनुष्य ऐसे अवरुद्ध आक्रमण के लिए प्रेरित होता है तथा अभिव्यक्ति के लिए एक ऐसा मार्ग ढूंढने का प्रयत्न करता है जो सामाजिक दृष्टि से स्वीकृत हो और वह उसके अहं को भी स्वीकार्य हो।''

ने कुण्ठा को उत्पन्न करने वाली तीन मुख्य स्थितियां हैं—

1. प्रतिकूल वातावरण द्वारा प्रस्तुत बाह्य बाधाएं जो व्यक्ति को अपने लक्ष्य प्राप्ति से रोकती हो।

2. मनुष्य के पराहं द्वारा प्रस्तुत आंतरिक बाधाएं जो उसकी अस्वीकार्य प्रवृत्तियों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति को रोकती है तथा

3. दो पारस्परिक विशिष्ट प्रवृत्तियों का एक साथ उत्प्रेरण, जहां पर एक व्यक्ति की संतुष्टि से दूसरे व्यक्ति के तात्कालिक संतोष में बाधा पडती है।

सभी कुण्ठाएं आक्रामकता का कारण नहीं बनती। निषेधात्मक भावों के परिमाण के आधार पर ही आक्रामकता का परिमाण निर्धारित होता है। किस लक्ष्य के अवरुद्ध होने पर उत्पन्न हुई कुण्ठा आक्रामकता का कारण बनती है, इस हेतु तीन प्रकार के लक्ष्य हो सकते हैं—

1 एक ऐसा लक्ष्य जो व्यक्ति के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण न हो तथा जिसके प्राप्त न होने से उसके व्यक्तित्व को गंभीर हानि न पहुंचे।

2. दूसरा ऐसा लक्ष्य, जिसकी अप्राप्ति से उसके व्यक्तित्व की अखण्डता को चुनौती, उसकी सुरक्षा भावना पर आघात तथा उसके अहं पर चोट लगे, तथा

3. तीसरा ऐसा लक्ष्य जिसकी प्राप्ति में निरंतर बाधाएं आती रहें तथा इसके कारण से प्राप्त हुई असफलता, व्यक्ति को निरंतर कुण्ठित करता रहे।

प्रथम प्रकार के लक्ष्य के अवरोध से उत्पन्न हुई कुण्ठा आक्रामकता का कारण नहीं बनती। दूसरे प्रकार के अवरोध से उत्पन्न हुई कुण्ठा आक्रामकता का कारण हो सकती है जबकि तीसरे प्रकार के लक्ष्य के अवरोध से उत्पन्न हुई कुण्ठा निश्चित ही आक्रामकता का कारण बनती है।

हानिकारक उद्दीपक से अभिप्राय उस परिस्थिति से है, जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण करके उसे पुनः आक्रमण के लिए उकसाता है। यदि कोई व्यक्ति किसी पर आक्रमण करता है तो प्रतिपक्षी के पास दो ही विकल्प होते हैं या तो वह उस स्थान को छोड़ दे या प्रतिक्रिया स्वरूप आक्रमण करे।

उपर्युक्त दोनों कारणों में हानिकारक उद्दीपक आक्रामक होने के लिए अधिक उत्तरदायी है।

इतिहास या अतीत

अन्य प्रतिक्रियाओं की भांति आक्रामकता की भी एक विशेष प्रक्रिया होती है। निरन्तर आक्रामक भावना रहने के कारण व्यक्ति को आक्रामकता की आदत पड जाती है जिससे व्यक्ति कुण्ठा या हानिकारक उद्दीपक के अभाव में भी आक्रामक बने रह सकता है। उदाहरणार्थ—आक्रामकता से यदि व्यक्ति अतीत में निरन्तर लाभान्वित होता रहा है तथा उसके विकास में भी आक्रामकता किसी प्रकार सहायक रही है तो वह व्यक्ति आक्रामकता का निरन्तर व्यवहार करता रहेगा तथा उसकी एक विशेष प्रकार की आदत निर्मित हो जायेगी। आक्रामकता की ओर उसका झुकाव इतना बढ़ जायेगा कि वह शांतिपूर्ण समाधान की संभावना होते हुए भी उसका उपयोग नहीं करना चाहेगा एवं उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही आक्रामक हो जायेगा।

सामाजिक कारण

सामाजिक आलम्बन या सहयोग व्यक्ति के व्यवहार पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। व्यक्ति समूह में रहता है इसलिए उस समूह का

प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार, क्रिया आदि पर पड़ता है। मानव-शास्त्रियों ने विभिन्न अनुसंधानों द्वारा विभिन्न प्रकार के समूहों का व्यक्ति पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया है। एक परिवार में रहने वाले बच्चे के व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया उसके माता-पिता के व्यक्तित्व से प्रभावित होती है। यदि उस पारिवारिक समूह में आक्रामकता व्याप्त है तो बच्चे के व्यवहार में निश्चित रूप से किसी न किसी अंश में आक्रामकता आ ही जायेगी। परन्तु यदि समूह में आक्रामकता का अभाव है तो प्रायः यह देखा गया है कि बच्चे का झुकाव आक्रामकता की ओर कम होगा।

मनुष्य का स्वभाव

स्वभाव का विश्लेषण उस व्यवहार के द्वारा किया जा सकता है जो कि मनुष्य के जीवन के पूर्वार्द्ध में घटित होता है तथा उस व्यवहार को निरन्तर प्रयोग में लाने के कारण वह उसकी आवश्यक आदत बन जाती है एवं कालान्तर में वह उसका स्वभाव ही हो जाता है। स्वभाव न केवल आक्रामक व्यवहार को प्रभावित करता है अपितु विभिन्न प्रकार के अन्य व्यवहारों को भी प्रभावित करता है जो मनुष्य के जीवन में आवश्यक है। स्वभाव मनुष्य की सक्रियता के स्तर, प्रतिक्रिया की तीव्रता, स्वतंत्रता आदि को भी प्रभावित करता है। मनुष्य का स्वभाव यदि परिपक्व है और वह कारणों पर गम्भीर चिन्तन कर सकता है तो वह किसी प्रतिक्रिया से पूर्व उन कारणों को खोज सकता है जो आक्रामक होने में सहयोग देते है। एक परिपक्व मस्तिष्क विचारपूर्वक प्रतिक्रिया करता है जो कि आक्रामकता की तीव्रता को प्रभावित कर कम कर देता है।

सक्रियता के स्तर से अभिप्राय उस ऊर्जा से है जिसे व्यक्ति अपने प्रतिदिन के व्यवहार हेतु प्रयोग में लाता है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया है कि अधिक सक्रियता स्तर से क्रोधात्मक भावों को अधिक उद्दीपन मिलता है जो आक्रामकता का कारण बनता है। कम सक्रियता स्तर के व्यक्ति को हानिकारक या

क्रोधात्मक उद्दीपन नहीं मिलता, परिणामतः ऐसा व्यक्ति आक्रामक नहीं बनता।

प्रतिक्रिया की तीव्रता विभिन्न प्रकार के मनुष्यों में विभिन्न प्रकार की होती है। जितनी तीव्र प्रतिक्रिया होगी, उतनी ही अधिक आक्रामकता की सम्भावना होगी। चूंकि प्रतिक्रिया की तीव्रता उसी परिणाम में प्रभावित करती है, अतः तीव्र प्रतिक्रिया वाले व्यक्ति अधिक आक्रामक होते हैं तथा जिनकी प्रतिक्रिया का स्तर तीव्र नहीं होता, तुलनात्मक रूप से वे कम आक्रामक होते हैं।

स्वभाव में स्वाधीनता का अंश व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है। स्वाधीनता का अर्थ स्वावलम्बन, आत्मनिर्भरता तथा सामूहिक दबाव के निषेध की अभिरूचि से है। यह देखा गया है कि अधिक स्वाधीन विचारधारा वाले व्यक्ति में आक्रामक प्रवृत्ति पाये जाने की अधिक सम्भावना होती है तथा दूसरों पर निर्भर रहे या आंशिक रूप से पराधीन रहे व्यक्ति में आक्रामक प्रवृत्ति रहने की कम सम्भावना रहती है।

अन्तःस्रावी ग्रंथि तंत्र और आक्रामकता

चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में किये गये अनुसंधानों से यह ज्ञात हुआ है कि निषेधात्मक उद्दीपक हाईपोथेलेमस को उद्दीप्त करता है। यहां से निश्रित रासायनिक स्राव अनुकम्पी नाड़ी संस्थान तथा एड्रीनल ग्रंथि को प्रभावित करते हैं। प्रतिक्रिया में निश्रित अन्तःस्रावी स्रावों से हृदय की धडकन तीव्र हो जाती है, रक्तचाप बढ़ जाता है। रक्त का प्रवाह मांस-पेशियों की तरफ होता है और व्यक्ति का शरीर आक्रमण के लिए तैयार हो जाता है। यदि प्रतिदिन व्यक्ति को इसी प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना पड़ जाये तो आक्रामकता उसका स्वभाव बन जाती है।

समूह आक्रामकता

समूह आक्रामकता का कोई सन्तोषजनक विश्लेषण मनोविज्ञान या समाजविज्ञानों में नहीं मिलता। समूह में हिंसा के प्रमुख उदाहरणों

में प्रतिस्पर्धा, नैतिक मूल्य आदि कारण पाये गये है। समूह की आक्रामकता का एक प्रमुख कारण भावात्मक तनाव भी है साथ ही कुण्ठा एवं विशेषकर पूर्वाग्रहों की अहं भूमिका रहती है। मूलतः देखा जाये तो समूह आक्रामकता में पूर्वाग्रह ही प्रमुख कारण है। इन पूर्वाग्रहों के कारण एक समूह अपनी ही जीवन शैली को अच्छा बतलाता है, अपने ही विचारों को अच्छा मानता है और अपनी ही मान्यताओं को जन-उपयोगी मानता है। परिणामस्वरूप समूह की आक्रामकता को बढ़ावा मिलता है। पूर्वाग्रहों के कई प्रकार हो सकते हैं, जैसे—अपने समूह के पूर्वाग्रह, राष्ट्रीय पूर्वाग्रह, वैचारिक, जातीय और साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह आदि। ये पूर्वाग्रह अपने-अपने समूहों में आक्रामकता के लिए जिम्मेदार हैं।

आक्रामकता पर नियंत्रण

मानवशास्त्रियों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि व्यक्ति का शारीरिक संस्थान, मानसिक योग्यता, भावनाएं, आकृति एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इसलिए मनुष्य के आक्रामक बनने में इनके हानिकारक तत्त्व सहयोगी बनते हैं। समाज में व्याप्त विषमताएं आदि में भी वह उद्दीपन व्याप्त है जो आक्रामकता में सहायक है। प्रो. हम्बर्ग ने लिखा है—''यदि आक्रामकता को प्रोत्साहन मिलेगा, उद्दीपन मिलेगा तो वह प्रकट हो जायेगी। संघर्ष, तनाव व हिंसा आदि को सामाजिक मान्यता मिलती है तो मनुष्य उसे करके ही संतुष्ट होना चाहता है। इसलिए यदि आक्रामकता या हिंसा को नियंत्रित करना है तो हमें इस प्रकार की संस्कृति अपनानी पड़ेगी जो कि हमें आक्रामकता के विरोध में शिक्षित करे तथा उन परिस्थितियों को दूर करने में सहायता दे, जो मनुष्य के आवश्यक कार्यों, समस्याओं आदि को सुलझाने में बाधा डालती है।'' और हमें इस प्रकार की जीवन शैली का भी निर्माण करना पड़ेगा जो व्यक्ति को पूर्वाग्रहों में न पालकर विधेयात्मक भाव और चिन्तन देती है। ये प्रयास हमें समाज की लघुत्तर ईकाइयों से ही प्रारंभ करना होगा।

कलहशमन और अनेकान्त

यह पृथ्वी कभी भी धर्म व दर्शन से रिक्त नहीं रही है। भारतवर्ष भी इसका अपवाद नहीं है। भारत में जैन, बौद्ध, वैदिक आदि विविध धर्मों का अस्तित्व रहा है। इन धर्मों के अपने-अपने विशिष्ट सिद्धान्त रहे है। अनेकान्त—जैन दर्शन का एक विशेष सिद्धान्त है। इससे ही बौद्धिक अहिंसा का सूत्रपात हुआ है, जो जैनों की अहिंसा-दर्शन में विशेष देन है। इसी देन के कारण अहिंसा जैन दर्शन से जुड़ी हुई है।

अनेकान्त की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भगवान् महावीर के पूर्व भारत-भूमि पर वैचारिक-संघर्ष एवं दार्शनिक विवाद अपनी चरम सीमा पर थे। जैन आगमों के अनुसार उस समय 363 मत प्रचलित थे। इन 363 दार्शनिक सम्प्रदायों को जैन आगमों में चार वर्गो में विभाजित किया गया था—

1. **क्रियावादी**—जो आत्मा को पुण्य-पाप आदि का कर्त्ता-भोक्ता मानते थे।

2. **अक्रियावादी**—जो आत्मा को अकर्त्ता मानते थे।

3. **विनयवादी**—जो आचार-नियमों पर बल देते थे।

4. **अज्ञानवादी**—इनके अनुसार ज्ञान से विवाद उत्पन्न होते हैं, इसलिए अज्ञान ही परम श्रेय है।

वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में बुद्ध और महावीर दो महापुरुष हुए। बुद्ध ने विवाद व मतान्धता से ऊपर उठने के लिए विवाद परांगमुखता को अपनाया। किन्तु इससे मानवीय जिज्ञासा

का समाधान नहीं हो पाया। व्यक्ति दार्शनिक विचारों की इस संकुलता में सत्य को देखना चाहता था। वह जानना चाहता था कि इन विविध मतवादों में सत्य कहां है? ऐसी परिस्थिति में महावीर विरोध-समन्वय की एक विधायक दृष्टि लेकर आये और उन्होंने कहा—आग्रह, मतान्धता या एकान्त दृष्टि ही गलत दृष्टि है।

महावीर ने कहा—एकान्त दृष्टि और आग्रह ही सत्य का बाधक तत्त्व है। सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान अनाग्रह से ही हो सकता है। दूसरों के सत्य को झुठलाकर सत्य को नहीं पाया जा सकता। सत्य विवाद में नहीं, विवाद समन्वय में प्रकट होता है।

अनेकान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि

पूर्ण सत्य जाना जा सकता है, पर कहा नहीं जा सकता। क्योंकि शब्दों की इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह एक साथ एक समय में पूर्ण सत्य को कह सके। इसलिए अपूर्ण साधन से पूर्णता को जानने के सभी प्रयास आंशिक सत्य से आगे नहीं बढ़ पाते और जब आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तब वैचारिक संघर्ष जन्म ले लेते है।

वस्तुतः हमारी ऐन्द्रिक क्षमता, तर्क-बुद्धि, विचार-क्षमता, वाणी और भाषा इतनी अपूर्ण है कि वे सम्पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति में सक्षम नहीं हैं। वह केवल सत्य के एक अंश को ही कह सकती है। इतना ही नहीं वस्तु सत्य में परस्पर विरोधी गुण भी एक साथ रहते है। ऐसी स्थिति में दो भिन्न दृष्टियों में परस्पर विरोधी तथ्य भी एक साथ सत्य हो सकते हैं। जो वस्तु एक है वह अनेक भी है। जो वस्तु सत् है वह असत् भी है। वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी।

अनेकान्त का एक सूत्र है—सहप्रतिपक्ष। प्रत्येक पदार्थ विरोधी युगलों का संकुल है। इसलिए अनेकान्त का मूल आधार है—विरोध के अस्तित्व की स्वीकृति, प्रतिपक्ष की स्वीकृति। अनेकान्त एकान्तिक या आग्रह-बुद्धि का निरसन कर अनाग्रही या अनेकांतिक-दृष्टि को प्रकट करता है। एकान्त मिथ्यादृष्टि के कारण सत्य के एक अंश को

हम पूर्ण सत्य मान लेते हैं। जिससे एक मत का दूसरे मत के साथ विरोध हो जाता है। अनेकान्त इन विरोधों का परिहार करके उनका समन्वय करता है।

वर्तमान युग में अनेकान्त की आवश्यकता

वर्तमान युग सापेक्षवाद, समन्वय, सह-अस्तित्व आदि से परिचित है। पर इनके पीछे जो सिद्धान्त है उसकी जानकारी सामान्यतया लोगों को नहीं है। इन विचारों के पीछे जो सिद्धान्त है वह है—अनेकान्त। एक मनुष्य क्या सोच रहा है, क्यों, कहां और किस अवस्था में सोच रहा है—इसका निर्णय किये बिना दूसरे के चिन्तन और प्रतिपादन के साथ न्याय नहीं किया जा सकता।

वस्तु विराट् व अनन्तधर्मात्मक है। पर शब्दों की अपनी सीमा है। एक शब्द एक समय में एक ही सत्य को बता सकता है। इसलिए इस व्यक्त सत्य के अलावा अव्यक्त सत्य जिसे कहा नहीं गया है, उसका भी अस्तित्व है। स्यात् शब्द यह बतलाता है कि सत्यांश अभिव्यक्ति को पूर्ण मत समझो। इस सापेक्ष दृष्टि के आधार पर ही हमारे ज्ञान में विरोध की छाया मिट सकती है।

अहिंसा का विकास भी अनेकान्तवादी दृष्टि के आधार पर ही हुआ है। विचारों की विषमता हिंसा का कारण है। अनेकांत का कहना है—सभी विचार परस्पर सापेक्ष है, इसलिए उनमें समन्वय संभव है।

उपर्युक्त आधारों पर अनेकान्त की आवश्यकता को समझा जा सकता है। व्यापक दृष्टि हेतु अलग-अलग क्षेत्रों में इसके प्रयोगों को इस प्रकार विश्लेषित किया जा सकता है—

पारिवारिक जीवन एवं अनेकान्त

पारिवारिक जीवन में संघर्ष के अनेक कारण होते है। वैचारिक भिन्नता, जीवन स्तर, पारस्परिक संबंध, आजीविका आदि पारिवारिक सदस्यों के बीच तनाव या कलह का कारण बनते है। पर वर्तमान

में पारिवारिक जीवन में सामान्यतः संघर्ष के दो केन्द्र हैं—पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इनमें विवाद का मूल कारण दोनों का दृष्टिभेद है। पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ है उन्हीं संस्कारों में पुत्र को ढालना चाहता है। जो मान्यताएं पिता की है, उन्हीं मान्यताओं को पुत्र द्वारा मनवाना चाहता है। यही स्थिति सास-बहू की है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जीये जैसा उसने स्वयं जीया था। पर बहू युग के अनुरूप व अपने मातृ पक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। पीहर की स्वतंत्रता के स्थान पर ससुराल में मर्यादित जीवन जीना पड़ता है। यही सब परस्पर विवाद का कारण बनते हैं। जब तक एक-दूसरे के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण व दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाएगा तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता।

अनेकान्त कहता है—केवल अपने ही दृष्टिकोण के प्रति आग्रह न रखें, दूसरे के विचारों के प्रति भी सहिष्णु बनें। इस हेतु सहिष्णुता का विकास अपेक्षित है। हम स्वयं के भावात्मक संवेगों पर नियंत्रण रखें, दूसरे के विचारों को समझने की कोशिश करें, अहं व गर्व की भावना को महत्त्व न दें।

सामाजिक क्षेत्र में अनेकान्त का प्रयोग

समाज अनेक जातियों व अनेक तरह के लोगों का समूह है। प्राचीन काल की वर्णव्यवस्था ने समाज में उच्च और निम्न वर्गों को जन्म दिया। भगवान् महावीर के अनुसार वर्ण जन्म के आधार पर नहीं, कर्म के आधार पर हो। कर्मणा जातिवाद मानवीय एकता का आधार है। परिवर्तनशील जाति मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊंच-नीच और छुआछूत की दीवारें नहीं खड़ी कर सकती।

कोई भी संगठन समन्वय के बिना संभव नहीं है। समन्वय का दृष्टिकोण ही सह-अस्तित्व को बल देता है और सापेक्षता सह-अस्तित्व को संभव बनाती है। निरपेक्ष दृष्टिकोण से सामाजिकता विकसित नहीं हो सकती क्योंकि निरपेक्षदृष्टि कहती है—पड़ौसी मरे या जीए,

भूखा रहे या न रहे मुझे क्या? जबकि सामाजिक दृष्टि कहती है—परस्परोपग्रहो जीवानाम्।

साम्प्रदायिक वैमनस्य और अनेकान्त

अनेकान्त का प्रयोग धार्मिक क्षेत्र में धार्मिक सहिष्णुता व सर्व-धर्म समभाव के लिए किया जा सकता है।

विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर साधना के बाह्य नियमों का निर्धारण किया। उनके मतावलंबियों ने अपने-अपने धर्माचार्यों के प्रति ममत्व एवं आग्रह के कारण अपने ही धर्म या साधना पद्धति को एकमात्र व अंतिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप विभिन्न संप्रदायों के बीच वैमनस्य प्रारंभ हुआ। यदि हम यह समझ लें कि कोई भी तत्त्व सब सम्प्रदायों में पूर्ण नहीं है। पूर्णता मर्यादित है। निरपेक्षता और पूर्णता हमारी कल्पना है, यथार्थ नहीं। इसलिए सापेक्ष दृष्टिकोण साम्प्रदायिक कलह को दूर करने में सक्षम है। सर्व-धर्म सद्भाव के लिए अनेकान्त पांच सूत्र देता है—

1. मण्डनात्मक नीति अपनाई जाए, दूसरों पर आक्षेप न हो।
2. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता।
3. दूसरे सम्प्रदाय व उनके अनुयायियों के प्रति घृणा न हो।
4. सम्प्रदाय परिवर्तन करने पर अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।
5. धर्म के मौलिक तथ्यों जैसे अहिंसा आदि के प्रचार के लिए सामूहिक प्रयत्न किये जाएं।

राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के संदर्भ में अनेकान्त

वर्तमान में राजनैतिक जीवन भी वैचारिक संकीर्णता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद-समाजवाद आदि अनेक राजनैतिक विचारधाराएं तथा राजतंत्र-प्रजातंत्र आदि अनेक शासन प्रणालियां वर्तमान में प्रचलित हैं। ये विरोधी विचार एवं व्यवस्थाएं एक-दूसरे को समाप्त करने के

लिए प्रयत्नशील हैं। इतना ही नहीं प्रत्येक खेमे के राष्ट्र अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने हेतु भी तत्पर है।

विश्व में अनेक राष्ट्र, उन सबकी अलग-अलग विचारधाराएं फिर उनमें संघर्ष नहीं हो, यह तभी संभव है जब हम सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करें। विरोधी व्यक्तियों, विरोधी राष्ट्रों, विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व हो सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ इसका सर्वोपरि उदाहरण है। भिन्नता से लड़ाई आखिर कब तक करेंगे। भाषा ने, वर्गों ने, सीमाओं नें, रंगों ने न जाने मनुष्य जाति के कितने टुकड़े किये हैं और यही होता रहा तो युद्ध मानवजाति नाश कर देगा। यदि मनुष्य को जीना है तो उसका मार्ग है सह-अस्तित्व।

आज हम बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों का, बड़े राष्ट्रों के लिए छोटों के हितों का बलिदान नहीं कर सकते। सापेक्ष दृष्टि के अनुसार किसी के लिए किसी का अनिष्ट नहीं किया जा सकता। प्रभुसत्ता की दृष्टि से सभी राष्ट्र स्वतंत्र हैं, सामर्थ्य की भिन्नता हो सकती है। इस भिन्नता या वैषम्य के आधार पर दूसरों को मिटाने की बात गलत है। आज यह माना जाने लगा है कि यदि गरीब और अविकसित राष्ट्रों का विकास नहीं कर पाये तो समृद्ध और विकसित राष्ट्र बहुत लम्बे समय तक अपने विकास को यथावत् नहीं रख पायेंगे। इसलिए सभी राष्ट्र, सभी व्यवस्थाएं, सभी विचारधाराएं विश्व की विराट् व्यवस्था के अंग हैं। वे एक साथ रह सकते हैं। अनेकांत दृष्टि के अनुसार—

सभी अपना दृष्टिकोण सम्यक् बनाएं।

समस्या को सुलझाने हेतु एक साथ बैठें।

एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करें।

अतएव अनेकान्त आज विभिन्न क्षेत्रों की युगीन समस्याओं को सुलझाने में समर्थ है। आवश्यकता है इन क्षेत्रों में अनेकान्त के प्रयोग की। समन्वय, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व, सापेक्षता आदि दृष्टियां जागतिक समस्याओं का निदान प्रस्तुत करती हैं और आज विश्व-व्यवस्था का झुकाव भी इन्हीं सिद्धान्तों की ओर है।

सापेक्ष दृष्टिकोण

प्रत्येक वस्तु अनेक विरोधी धर्मों का युगल है। हम अखण्ड वस्तु को जान तो सकते हैं पर उससे हमारा व्यवहार नहीं चल सकता। हम जब वस्तु स्वरूप के बारे में कहते हैं तो वस्तु स्वरूप के प्रत्येक उपयोग के पीछे हमारी अपेक्षा जुड़ी होती है। अपेक्षा न जुड़ी हो तो प्रत्येक व्यवहार परस्पर विरोधी हो जाएगा। अपेक्षा दृष्टि से वस्तु एक या अनेक नहीं अपितु एक और अनेक का समन्वय है। वस्तु केवल नित्य या अनित्य नहीं है वरन् नित्यता और अनित्यता का समन्वय है। वस्तु केवल भिन्न या अभिन्न नहीं अपितु भिन्न और अभिन्न का समन्वय है। इस यथार्थ को लसप नकपक वा परस्पर के विरोध आसानी से सुलझाये जा सकते हैं।

अहिंसा का विकास और सापेक्षता

हिंसा की जड़ विचारों का विरोध है। वस्तु के जितने पहलू है उतने ही सत्य हैं, उतने ही उन सत्यों को कहने के तरीके हैं और जितने कहने के तरीके है, उतने ही मतवाद हैं। मतवादों का एकान्तिक दृष्टिकोण विवादों को जन्म देता है और विवाद हिंसा को। जबकि मतवादों में सापेक्ष दृष्टिकोण समन्वय को जन्म देता है और समन्वय अहिंसा को।

एक वक्ता जो शब्द कहता है, वह शब्द उसने कब, कहां और किन परिस्थितियों में कहा है, उसका क्या उद्देश्य है, किस साध्य की प्राप्ति के लिए वह ऐसा कह रहा है, आदि-आदि बिन्दुओं पर जब तक ध्यान नहीं दिया जाता किसी भी व्यक्ति के विचारों के प्रति न्याय नहीं हो सकता। इसलिए सापेक्षवाद कहता है—प्रत्येक धर्म

को अपेक्षा के साथ ग्रहण करो क्योंकि सत्य सापेक्ष है। स्वयं के साथ दूसरों को भी समझने की कोशिश करो। यही बौद्धिक अहिंसा है जो सापेक्ष दृष्टि से ही फलित होती है।

निरपेक्ष दृष्टिकोण—हिंसा का कारण

एकान्तिक आग्रह या निरपेक्ष दृष्टिकोण हिंसा का मूल है। यदि हम यह कहें कि व्यक्ति समुदाय से सर्वथा भिन्न है तो यह वस्तुस्थिति का तिरस्कार होगा तथा पार्थक्यवादी नीति होगी। यदि हम यह कहें कि समुदाय ही सत्य है तो यह व्यक्ति का तिरस्कार होगा और एकांतिक सामुदायिक नीति होगी। यदि हम कहें कि व्यक्ति ही सत्य है तो सामुदायिकता का तिरस्कार होगा और एकांतिक व्यक्तिवादी नीति होगी। यदि हम कहें कि वर्तमान ही सत्य है तो एकता का तिरस्कार होगा और एकांतिक परिवर्तनवादी नीति होगी। यदि हम लिंगभेद और उत्पत्ति भेद को ही सत्य मानें तो यह एकता का तिरस्कार होगा।

इस प्रकार निरपेक्ष या एकांतिक दृष्टिकोण सदैव किसी न किसी का तिरस्कार करेगा जो अन्ततः हिंसा को जन्म देगा।

सापेक्षता के सूत्र—

(क) कोई भी वस्तु या व्यवस्था सापेक्षता की मर्यादा से बाहर नहीं है। प्रत्येक वस्तु व व्यवस्था सापेक्ष होती है पूर्ण नहीं।

(ख) दो विरोधी गुण एक वस्तु में एक साथ रह सकते हैं।

(ग) सभी दृष्टिकोण परस्पर विरोधी नहीं हैं। सभी दृष्टिकोण सापेक्ष हैं, एक दूसरे के पूरक है।

(घ) एकान्त विरोध या एकान्त अविरोध से पदार्थ व्यवस्था संभव नहीं है। विरोध और अविरोध के समन्वय से ही व्यवस्था संभव हो सकती है।

(ङ) जितने एकान्त या निरपेक्षवाद हैं उनमें दोष भरे पड़े है तथा वे परस्पर विनाश करने वाले हैं। अनाक्रमण, अहस्तक्षेप, स्वमर्यादा

का अनतिक्रमण, सापेक्षता ये सामंजस्य के सिद्धान्त हैं, जो निरपेक्ष या आग्रही दृष्टि में सापेक्षता और अनाग्रह (समन्वय) को खोजते हैं।

(च) जितने वचन हैं, उतने ही सत्य है। प्रत्येक दृष्टि विशाल ज्ञान सागर का अंश है अर्थात् प्रत्येक दृष्टि अपनी-अपनी सीमा में सत्य है।

सापेक्षता के प्रयोग—

1. अध्यात्म जगत् में

अध्यात्म जगत् में कोई भी व्यक्ति किसी भी जीव के प्रति निरपेक्ष नहीं हो सकता। निरपेक्ष होने का अर्थ है जीवों के प्रति क्रूर होना। अध्यात्म जगत् में सापेक्षदृष्टि कहती है सभी प्राणियों की अपेक्षा करो अर्थात् उनके महत्त्व को समझो। उनकी हिंसा मत करो, उनकी हिंसा मत करवाओ और दूसरा यदि उनकी हिंसा करता है तो उसका अनुमोदन भी मत करो।

2. सामाजिक क्षेत्र में

समाज में हमें वैषम्य देखने को मिलता है क्योंकि समत्व का विकास नहीं है। समत्व दृष्टि कहती है—जिस तरह तुम्हें दुःख अप्रिय है उसी तरह सभी प्राणियों को दु ख अप्रिय है। बाहरी आवरणों का भेद होने पर भी सब जीवों का भीतरी जगत् एक जैसा है। सभी जीवों में आत्मा समान है। सभी जीवों में सामर्थ्य की दृष्टि से ज्ञान समान है, उसका विकास भिन्न-भिन्न है। सामर्थ्य की दृष्टि से शक्ति सभी जीवों में समान है पर उसका विकास भिन्न-भिन्न है। इसलिए किसी भी जीव को उच्च या निम्न कहने का अधिकार हमें नहीं है।

व्यक्ति और समाज में कभी व्यक्ति को महत्त्व दिया जाता है तो कभी समाज को। यदि अपेक्षा को समझ लिया जाए तो यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि कब व्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाए और कब समाज को। और यदि व्यक्ति या समाज के प्रति एकान्तिक आग्रह ही रहेगा तो वह खिंचाव पैदा करेगा।

समाज का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्" जो अनेकांत द्वारा ही फलित होता है। समाज का हर व्यक्ति एक दूसरे को उपकृत करे। ऐसा सापेक्ष दृष्टिकोण न शोषण को जन्म देगा, न अपराध को और न हिंसा को। निरपेक्ष दृष्टि कहती है—कोई व्यक्ति मरे या जीए, भूखा रहे या न रहे इससे दूसरे व्यक्ति का कोई संबंध नहीं है। पर परस्परोपग्रहो जीवानाम् के सिद्धान्त पर चलने वाला व्यक्ति पड़ौसी की परेशानी से भी परेशान होगा।

3. आर्थिक क्षेत्र में

प्रत्येक व्यक्ति में उपार्जन क्षमता है। यह क्षमता हर व्यक्ति की समान नहीं है। इस असमान क्षमता के आधार पर कोई धनी है, कोई गरीब है और उनमें वर्ग भेद है। वर्गभेद समाप्ति के लिए समाजवाद का विकास हुआ पर उसमें दायित्व का बोध नहीं। पूंजीवाद में वैयक्तिकता का विकास है पर उसमें स्वार्थ व शोषण वृत्ति पनपती है। इन सब समस्याओं का समाधान है—स्वामित्व को सापेक्ष बनाएं। भोग के लिए इच्छा परिमाण करें अर्थात् स्वामित्व का सीमांकन करें। सापेक्ष स्वामित्व दोहरी समस्या का समाधान है। एक तो इसमें शोषण वृत्ति बंद रहेगी क्योंकि उचित सीमा के बाद संपत्ति पर उसका अधिकार नहीं होगा एवं उपार्जन की स्वतंत्रता के कारण व्यक्तिगत प्रेरणा भी रहेगी।

4. साम्प्रदायिक कलह के लिए

धर्म सम्प्रदायों की विविधता के कारण असामंजस्य की रंगभूमि रहे हैं। सापेक्षवाद के अनुसार सभी धर्मों में सत्यांश है। समाज व्यवहार या दैविक व्यवहार की दृष्टि से वैदिक धर्म ठीक है। अहिंसा या मोक्षमार्ग की दृष्टि से जैन धर्म ठीक है। श्रुतिमाधुर्य व करुणा की दृष्टि से बौद्ध धर्म ठीक है। धर्म उपासना पद्धति या योग की दृष्टि से शैव धर्म ठीक है। निरपेक्ष पूर्णता हमारी कल्पना है। पूर्णता सदैव मर्यादित होती है।

सर्व-धर्म सद्भाव की दृष्टि से सापेक्षवाद पांच सूत्र देता है—

(1) अपने मत का प्रतिपादन करें, दूसरों पर आक्षेप न करें।

(2) दूसरे के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखें।

(3) दूसरे समुदाय या अनुयायियों के प्रति घृणा या तिरस्कार का भाव न हो।

(4) सम्प्रदाय परिवर्तन करने वालों के साथ अवांछनीय व्यवहार न हो।

(5) धर्म के मौलिक तत्त्वों अहिंसा आदि को विश्वव्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न हो।

5. अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में

परिवार, जाति, समाज, राष्ट्र, विश्व ये सभी क्रमिक संगठन हैं। संगठन का अर्थ है—सापेक्षता। बिना सापेक्ष दृष्टिकोण के कोई भी संगठन अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। निरपेक्ष दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सदैव विषमता पैदा करते आये है। अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख के निरपेक्ष दृष्टिकोण ने ही हिटलर को यहूदियों पर अत्याचार का अवसर दिया। बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों तथा बड़ों के लिए छोटों का बलिदान भी निरपेक्ष दृष्टि का ही फल है। सापेक्ष नीति कहती है—किसी के लिए किसी का अनिष्ट नहीं किया जा सकता। बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों की बलि नहीं दी जा सकती। इसी तरह रंग भेद, विचार भेद, व्यवस्था भेद आदि को भी एकांतिक या निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आज विश्व सह-अस्तित्व और सापेक्षता के विचार की तरफ बढ़ रहा है। परमाणविक युग में यही उसका त्राण है। विकसित राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों से निरपेक्ष रहकर अपना अस्तित्व दीर्घकाल तक नहीं बनाए रख सकते, उनकी स्वयं की समृद्धि ही उन्हें लील जाएगी। इसलिए विकसित राष्ट्रों ने अविकसित एवं विकासशील राष्ट्रों की अस्मिता को स्वीकार कर उनके विकास में सहयोग के लिए भी तत्पर हुए हैं।

सह-अस्तित्व

यह जगत् द्वन्द्वात्मक है। द्वन्द्वात्मक जीवन एक सच्चाई है जो यह बताती है कि विरोधी धर्मो को एक साथ रहना ही चाहिए। विरोधी युगलों का सह-अस्तित्व संभव है क्योंकि उनमें सर्वथा विरोध नहीं है, समन्वय के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं। जैन दर्शन के अनुसार अनन्त आत्माएं हैं और सभी आत्माएं एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं। जैसे अनेक आत्माएं है वैसे ही उनकी योनियां अर्थात् उत्पत्ति स्थान भी अनेक है। कोई आत्मा पशु है, कोई मनुष्य। मनुष्य जाति में भी विभाजन है। कोई गोरा है, कोई काला है। कोई उष्ण कटिबन्धीय है, कोई शीत कटिबन्धीय आदि-आदि। महावीर के युग में वर्ण व्यवस्था का प्रचलन था। उस व्यवस्था में मनुष्य जाति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णों में विभाजित थी। यह विभाजन मनुष्य के संस्कार, भौगोलिक वातावरण व समाज व्यवस्था के आधार पर था। मनुष्य के अहंकार के कारण उच्चता व निम्नता की दीवारें खड़ी हो गई और जन्मना जाति स्थापित हो गई। उच्च कहलाने वाले लोग हीन कहलाने वाले लोगों के साथ दुर्व्यवहार करने लगे। महावीर ने सोचा—जब वस्तु जगत् में सह-अस्तित्व और समन्वय है तो यह मनुष्यों में क्यों नहीं हो ? इस आधार पर मैत्री का संदेश दिया गया—सब जीवों के साथ मैत्री करो। स्वभाव, रूचि और चिन्तन-धारा भिन्न होने के कारण मैत्री टूट जाती है। मैत्री को साधने का सूत्र दिया गया—सहिष्णुता का प्रयोग करो।

सह-अस्तित्व का आधार

महावीर ने कहा—भेद में छिपे अभेद को देखो। तुम जिससे जितने भिन्न हो, उतने ही अभिन्न भी हो और जिससे अभिन्न हो, उससे

उतने ही भिन्न भी हो। जब सभी प्राणियों से भिन्न और अभिन्न हो, तब भेद मानकर किसी को शत्रु क्यों मानते हो? जिसे तुम नीच मानते हो, वह भी तुम्हारे मन का अहंकार है और जिसे तुम उच्च मानते हो, वह भी तुम्हारे मन का अहंकार है। इसलिए विभाजन के साथ उच्चता और नीचता की रेखाएं निर्मित न करो। मनुष्य को तोड़कर मत देखो। मानवीय एकता को मत भूलो। यही सह-अस्तित्व का मौलिक आधार है।

एकता अनेकता से पृथक् नहीं है और अनेकता एकता से पृथक् नहीं है। इसी धरातल पर मानवीय एकता संभव है। इसी आधार पर भिन्न-भिन्न प्रणालियां एक साथ चल सकती है। अनेकता स्वाभाविक है पर शांतिपूर्ण जीवन जीने के लिए सह-अस्तित्व अनिवार्य है।

आज सह-अस्तित्व को ही समस्याओं का समाधान माना जा रहा है। पर दूसरों के स्वत्व को आत्मसात् करने की भावना को त्यागे बिना सह-अस्तित्व संभव नहीं है। एक व्यक्ति, जाति या राष्ट्र जब दूसरो के स्वत्व को हडप जाना चाहते हैं, तब सह-अस्तित्व कैसे संभव हो? सह-अस्तित्व के लिए आवश्यक है—स्व का हरण नहीं हो। आज विचारशील व्यक्ति व राष्ट्र दूसरों के स्वत्व से बने विशाल स्वरूप को छोडकर अपने स्वरूप में सिमटते जा रहे है, यही सामंजस्य की रेखा है और यही वर्ग-विग्रह व अन्तर्राष्ट्रीय-विग्रह की समापन रेखा है।

सह-अस्तित्व के प्रयोग

1. **पारिवारिक जीवन में**—पारिवारिक जीवन तभी सफल हो सकता है जब पारिवारिक सदस्यों का शांत सहवास हो। पारिवारिक कलह के लिए पीढीगत भिन्नता, वैचारिक भिन्नता, स्तर की भिन्नता आदि अनेक कारण बनते हैं। फिर भी दो पीढी के लोग, दो विचार के लोग व दो भिन्न जीवन स्तर के लोग एक साथ शांति से रह सकते हैं यदि वे उस भिन्नता में कोई अभिन्नता का बीज खोज लें। यद्यपि पग-पग पर टकराहट है, स्वार्थ है, भिन्नताएं हैं, विरोध हैं पर इनमें

समन्वय का प्रयोग करें। विरोध किस जगह नहीं होता। अपेक्षा है समन्वय की। यदि विरोध या भिन्नता में समन्वय खोजें तो इन विरोधों व भिन्नताओं के बावजूद सह-अस्तित्व संभव हो सकता है।

2. **सामुदायिक जीवन में**—समाज में हमें वैषम्य देखने को मिलता है क्योंकि समत्व का अभाव है। स्वार्थ, मान्यताएं और असहिष्णुता—इन वृत्तियों पर शासन करने वाला ही समन्वय का विकास कर सकता है। पुराने समय में साम्प्रदायिक और जातीय—ये दो प्रकार के संघर्ष थे। आज के समाज में वर्ग-संघर्ष है। वर्ग-संघर्ष तब तक नहीं मिट सकता, जब तक स्वार्थ की वृत्ति खत्म न हो। हम स्वार्थ से ऊपर उठकर यह सोचें कि छोटे-बड़े सभी मनुष्यों में एकता है, समानता है। इसलिए हम एक साथ रह सकते हैं। सह-अस्तित्व से ही समाज सुन्दर बन सकता है।

विश्वशांति और सह-अस्तित्व

आज राजनैतिक क्षेत्र में सह-अस्तित्व की ध्वनि मुखर हो रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ भी इसके लिए प्रयास कर रहा है। यह संगठन सह-अस्तित्व का एक अच्छा उदाहरण भी है। यहां परस्पर विरोधी राष्ट्र एक साथ बैठकर विश्व की ज्वलन्त समस्याओं पर विचार-विमर्श करते है।

परमाणविक युग में जब हिंसा समग्र हो गई है, हमारे पास केवल दो ही विकल्प हैं—या तो हम अहिंसा व विश्वशांति को अपना लें या फिर महाविनाश के लिए तैयार हो जाएं। हिंसा की समग्रता ने सह-अस्तित्व की धारणा को और अधिक पुष्ट किया है।

प्रभुसत्ता की दृष्टि से सभी राष्ट्र स्वतंत्र हैं पर सामर्थ्य की दृष्टि से समानता नहीं है। कोई राष्ट्र शक्तिशाली है, तो कोई कमजोर। कोई समृद्ध है, कोई गरीब। सभी राष्ट्रों में कुछ साम्य भी है और कुछ वैषम्य भी। यदि वैषम्य को प्रधान मानें तो दूसरों को मिटाने की बात आएगी और केवल साम्य को प्रधान मानें तो भी एकान्तिक आग्रह होगा और उसका परिणाम होगा—शीतयुद्ध। महावीर ने कहा—विरोधी युगलों का सह-अस्तित्व संभव है क्योंकि उनमें सर्वथा

विरोध नहीं है। इसी विचार के आधार पर पूंजीवाद और समाजवाद एक साथ रह सकता है। लोकतंत्र व राजतंत्र एक साथ रह सकता है क्योंकि विरोधी प्रणालियों में सह-अस्तित्व है।

सह-अस्तित्व के तीन सूत्र

1. **आश्वासन**—एक-दूसरे के प्रति आश्वस्त हों। अन्यथा आशंकाएं, शीतयुद्ध व संघर्ष को जन्म देंगी।

2. **विश्वास**—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रों और विशेषकर महाशक्तियों के बीच अविश्वास की जड़ें गहरी हो गईं, उसका परिणाम हुआ—शीतयुद्ध। सह-अस्तित्व के लिए अपेक्षित है एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का व एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का विश्वास करे।

3. **अभय**—अविश्वास शस्त्र-विस्तार को जन्म देता है, जबकि विश्वास अभय को जन्म देता है। अभय से निःशस्त्रीकरण संभव है।

सह-अस्तित्व के ये तीनों सूत्र परस्पर जुड़े हुए हैं। आश्वासन से विश्वास पैदा होगा और विश्वास से अभय। उदाहरणतः यदि परमाणु संधि होती है तो वह विश्व को एक आश्वासन होगा, उससे विश्व के राष्ट्रों में विश्वास का वातावरण बनेगा और नागरिक अभय हो जायेंगे।

अतः शांतिपूर्ण जीवन या शान्त-सहवास के लिए सह-अस्तित्व का सूत्र बहुत की महत्त्वपूर्ण है। संघर्ष प्रकृति का नियम नहीं, आरोपण है, विसंगति है। सह-अस्तित्व में सन्तुलन है, संगति है, इसलिए विरोधी तत्त्वों का भी सह-अस्तित्व संभव है। आज यह सूत्र राष्ट्रीय एकता या मानवीय एकता, धार्मिक सहिष्णुता और विश्व-शांति के लिए महत्त्वपूर्ण है। आवश्यक है इसके प्रयोग की। नेहरू ने जब पंचशील के सिद्धान्त में सह-अस्तित्व का समावेश किया था, तब इस सूत्र को राष्ट्रों के परस्पर व्यवहार के लिए महत्त्वपूर्ण सूत्र माना गया था, पर इसको उपेक्षा के कारण आज विश्व विनाश के कगार पर है। आज यह सूत्र किसी धर्मनेता का नहीं, बल्कि युग की मांग है।

विकास के लिए आवश्यक है दूसरों के विचारों को सहना

अकेला व्यक्ति संघर्ष नहीं कर सकता। सामुदायिक जीवन में संघर्ष, वैमनस्य, वैर-विरोध आदि देखे जाते हैं। सामुदायिक जीवन में ही वस्तुतः सहिष्णुता की कसौटी होती है। सहिष्णुता सामुदायिक जीवन का अलंकरण है जो सह-अस्तित्व और सापेक्षता से ही फलित होती है। सहिष्णुता के बिना सामुदायिक जीवन में विकास नहीं हो सकता, उन्नति नहीं हो सकती। जब तक समाज के विभिन्न वर्ग के लोग संघर्ष करते रहेंगे, एक दूसरे का विरोध करते रहेंगे, स्वार्थ के वशीभूत होकर शोषण करते रहेंगे, भाषा, धर्म, रंग, जाति के आधार पर बंटते रहेंगे, तब तक विकास, वह भी सबका सर्वतोमुखी विकास सम्भव कैसे हो सकेगा? डार्विन ने विकासवाद का सिद्धान्त देते हुए कहा था—वे ही प्रजातियां बचेंगी जिनमें अनुकूलन की क्षमता है अर्थात् वे प्राणी जो परिस्थिति के अनुकूल बन सकेंगे, भविष्य में बचेंगे। सच ही है—शक्तिहीन समाप्त हो जाता है। अनेकान्त का सिंहनाद है—जो सहता है वही बचता है और शक्तिशाली ही सहन कर सकता है।

विरोधी विचारों के प्रति सहिष्णुता

समाज में अनेक प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, जिनके अनेक विचार है। ऐसी स्थिति में विचारों की टकराहट न हो, संघर्ष न हो, यह कैसे संभव हो सकता है? मनुष्य जाति को जीना है तो उसका मार्ग है सहिष्णुता और सह-अस्तित्व। प्रत्येक व्यक्ति की यह चाह होती है—सब उस जैसा ही व्यवहार करें। विरोधी रूचियों, विरोधी स्वभावों

के बीच टकराहट और युद्ध संभव है पर यदि विरोधी विचारों को सहने की क्षमता है तो न केवल युद्ध टाले जा सकते हैं वरन् शांति की दिशा में विकास भी हो सकेगा।

अनेकान्त कहता है—

1. सत्य की सापेक्ष व्याख्या करो। अपने विचार का आग्रह मत करो। दूसरे के विचारों को समझने का प्रयत्न करो।

2 अपने विचारों की प्रशंसा व दूसरे के विचार की निन्दा कर अपने पांडित्य का प्रदर्शन मत करो।

3 प्रत्येक विचार सत्य भी हो सकता है और असत्य भी। इसलिए किसी भी विचार के लिए निरपेक्ष दृष्टिकोण मत अपनाओ।

सहिष्णुता क्या है ?

सहिष्णुता है—असहयोग। विरोधी के साथ न प्रवृत्ति करो, न निवृत्ति करो, किन्तु उपेक्षा करो। क्रोध करने वाले के साथ क्रोध नहीं, उसकी उपेक्षा करो।

सहिष्णुता का एक अर्थ है—सहन करके सुधार के लिए अवसर देना। किसी व्यक्ति की तुच्छता को सहन करना उसको बिगाडना नहीं, वरन् उसे सुधरने का अवसर देना है। प्रश्न है कि क्या अन्याय को भी सहन करें। अनेकान्त का उत्तर है—अन्याय को सहन मत करो पर उसका प्रतिकार सहिष्णुता से हो।

सहिष्णुता का एक अर्थ है—मानसिक शांति। विरोधी विचार व परिस्थितियां व्यक्ति को अशांत करती है। विपरीत विचारों, स्थितियों व व्यवस्थाओं को सहन करें। इससे मानसिक शांति भंग नहीं होगी और यदि व्यक्ति शांत है तो विश्व शांति भी संभव है।

सहिष्णुता क्यों ?

संयोग-वियोग की इस दुनिया में सहिष्णुता ही त्राण है। विरोधी व्यक्तियों, विरोधी विचारों, विरोधी परिस्थितियो के बीच यदि

व्यक्ति सदैव प्रतिक्रिया ही करता रहेगा तो अपनी क्षमताओं का उपयोग वह विकास के लिए कब करेगा ? इसलिए सहिष्णुता प्रतिक्रिया विरति के लिए आवश्यक है।

सुविधाओं के विकास के साथ व्यक्ति की सहनशीलता भी समाप्त हो गई है। व्यक्ति में धैर्य नहीं, शक्ति नहीं, सहन करने की क्षमता नहीं, अधीरता है, इसलिए भी सहिष्णुता की अपेक्षा है। सुविधावाद जो अन्ततः हिंसा की ओर धकेलता है, कष्ट सहिष्णु बनकर ही उससे बचा जा सकता ।

सहिष्णुता के विकास से ही अनुशासन का विकास संभव है। अनुशासनहीनता की समस्या किसी एक राष्ट्र की नहीं, वरन् पूरे विश्व की है। सहिष्णुता के विकास से अनुशासनहीनता समाप्त होती चली जाएगी। सहिष्णुता व्यक्ति में शक्ति का वर्द्धन भी करेगी जो अन्ततः उसे समता के आदर्श तक पहुंचा सकेगी।

सहिष्णुता का विकास कैसे हो ?

सहिष्णुता के विकास के लिए कुछ मार्गदर्शक तत्त्व का प्रयोग इस प्रकार है—

1. **संवेगों पर नियंत्रण करें**—विपरीत परिस्थिति के आते ही व्यक्ति संवेगों के भंवर में फंस जाता है। क्रोध या अहंकार जब प्रबल होता है तब व्यक्ति यह भूल जाता है उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए। इसलिए सहिष्णुता के विकास के लिए क्रोध, भय, अहंकार, राग-द्वेष आदि संवेगों पर नियंत्रण करें।

2. **दृष्टिकोण सम्यक् बनाएं**—वस्तु सत्य को उसी रूप में जानें। कोई व्यक्ति कब, कहां, कैसे और किन परिस्थितियों में कह रहा है, उसे उसी संदर्भ में समझने की कोशिश करें।

3. **सहासिका**—समस्या सुलझाने के लिए एक साथ बैठें। व्यक्तियों के बीच संचार के अभाव में संघर्ष बढ़ जाते हैं। इसलिए उचित संचार के लिए एक साथ बैठकर विचार-विमर्श करें।

4. एक दूसरे को समझने का प्रयत्न करें।

5. उपवास व सूर्य आतापना से सहनशीलता का विकास संभव है।

6. मस्तिष्क के अग्रभाग व ललाट जिन्हें क्रमशः शांतिकेन्द्र व ज्योतिकेन्द्र कहा जाता है—इन दोनों केन्द्रों पर ध्यान करें फिर क्रमशः दोनों केन्द्रों पर सफेद रंग का ध्यान करें।

7. **अनुचिंतन करें**—विरोधी विचार, विरोधी स्वभाव, विरोधी रूचि—ये संवेदन मुझे प्रभावित करते है, किन्तु इनके प्रभाव को कम करना है। यदि इनका प्रभाव बढा तो शक्तियां क्षीण होंगी। जितना इनसे कम प्रभावित रहूं, उतनी ही शक्तियां बढेंगी। इसलिए सहिष्णुता का विकास मेरे जीवन की सफलता का महामंत्र है।

सहिष्णुता के विकास की भूमिकाएं

1 परिस्थितियों को सहन करना।

2 दूसरे व्यक्तियों को सहन करना।

3. अपने से भिन्न विचारों को सहन करना।

4 राग-द्वेष की तरंगों का सामना कर उन्हें परास्त करना।

इस प्रकार सहिष्णुता का विकास न केवल पारिवारिक कलह को दूर करेगा बल्कि समाज, धर्म, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षो को भी निराकृत कर सकेगा। विशेषत उन संघर्षो को जो वैचारिक है, जो महत्त्वाकांक्षाओं पर आधारित है, जो भय की भावनाओं या अविश्वासों के कारण हैं। क्योंकि यह दूसरे के विचारों को सहन करना सिखाती है। महत्त्वाकांक्षाओं व भय के संवेगों पर नियंत्रण करती है तथा आपसी विचार-विमर्श के द्वारा अविश्वासों को दूर करती है। इसलिए वैचारिक अशांति का महत्त्वपूर्ण निदान है—सहिष्णुता का विकास दूसरे के विचारों को सहना।

शांति शिक्षा

शांति का स्वरूप

विश्वशांति मानव-जाति के अस्तित्व, विकास एवं प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। युद्ध या युद्ध का भय, विकास एवं प्रगति के सभी साधनों को शांतिपूर्ण उपयोग से हटाकर युद्ध या युद्ध की तैयारियों के लिए मोड़ देता है। मानव-इतिहास के रक्तरंजित पृष्ठ युद्ध की भयानकता व विनाशकता के जीवन्त उदाहरण हैं। जब-जब मानवता युद्ध से त्रस्त हुई, तब-तब शांति की अधिकतम आवश्यकता अनुभव की गई। बीसवी शताब्दी से पूर्व विश्वशांति के सामूहिक प्रयास बहुत कम हुए। कलिंग-युद्ध के पश्चात् सम्राट अशोक ने युद्ध का परित्याग कर अहिंसा के मार्ग पर चलने का प्रण किया। बाद में एशिया, अफ्रीका, यूरोप आदि क्षेत्रों में युद्धोपरान्त जो संधियां हुईं, उनका उद्देश्य द्विपक्षीय विवादों को समाप्त कर क्षेत्रीय शांति कायम करना था। प्रथम विश्वयुद्ध की वीभत्सता को दृष्टिगत रखते हुए युद्ध टालने एवं शांति कायम करने हेतु "लीग ऑफ नेशन्स" की स्थापना हुई लेकिन युद्ध संकट फिर भी न टल सका तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में महाविनाश का सामना करना पड़ा। शांति स्थापना तथा परस्पर विवादों के हल हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों में विश्वशांति तथा सुरक्षा को कायम रखना एवं शांति के लिए उत्पन्न खतरों को सामूहिक सुरक्षा द्वारा रोकना प्रमुख है।

शांति क्या है ?

विभिन्न धर्म-दर्शनों एवं राजनीतिज्ञों ने शांति की अलग-अलग व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार "शांति" शब्द का अर्थ है—युद्ध से मुक्ति, दो युद्ध शक्तियों में शांति संधि। अर्थात् युद्ध की समाप्ति तथा युद्धरत राष्ट्रों में संधि कर शांति स्थापित की जा सकती है।

पॉनविट्ज का मत है—"हमारे पास युद्ध के विरुद्ध संभावित कारण हो सकते है—जब तक हम यह नहीं जानते कि शांति क्या है, कैसे हो सकती है, तब तक ये कारण हमारी सहायता कैसे कर सकते है ?" अर्थात् पॉनविट्ज के अनुसार युद्ध और शांति का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने से पूर्व कई विरोधाभासों का समन्वय करना अनिवार्य है—

1 विगत अनुभवों के आधार पर शांति के सही स्वरूप की समीक्षा।

2. यह जानना कि भविष्य में क्रियात्मक रूप से किस प्रकार शांति स्थापित की जा सकती है तथा

3. श्रेष्ठ प्रकार की शांति की परिभाषा जो अन्तत. प्राप्त करनी है।

क्विंसी राईट के अनुसार—"शांति किसी समाज की वह अवस्था है, जिसमें आंतरिक रूप से इसके सदस्यों तथा बाह्य रूप से इसके अन्य समुदायों के साथ सम्बन्धों में व्यवस्था तथा न्याय का बोलबाला हो।" कुछ समाज-शास्त्रियों जैसे लियोहेमन, जुलेस मॉक आदि ने शांति को "युद्ध न होने" (Warlessness) के रूप में व्याख्यायित किया है। प्रो. गाल्टुंग ने इस दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए शांति से सम्बन्धित दो भिन्न अवधारणाए दीं—पश्चिमी अवधारणा और पूर्वी अवधारणा। पश्चिमी अवधारणा के अनुसार युद्ध या आयोजित सामूहिक हिंसा का अभाव शांति है। तनाव, शोषण और संरचनात्मक हिंसा के अभाव को भी शांति कहा जा सकता है। शांति से सम्बन्धित इन विचारों को निषेधात्मक शांति की संज्ञा दी जाती है। इसलिए शांति के दूसरे पक्ष भावात्मक शांति पर भी विचार अपेक्षित है।

भारतीय शांति चिंतक सुगतदास के अनुसार सामाजिक और मानवीय विकास की प्रक्रिया को भावात्मक शांति कहा जा सकता है। उनके अनुसार शांति का यह अर्थ गांधी ने प्रारंभ किया था पर उन्होंने शांति के प्रतिपक्ष हिंसा की व्याख्या पहले की थी। हिंसा से

उनका अर्थ केवल शक्ति प्रयोग, खूनी क्रांति आदि ही नहीं, पर सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक शोषण भी है। भले ही यह शोषण एक राष्ट्र के द्वारा किसी दूसरे राष्ट्र का किया जाए या एक व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति का या किसी पुरुष द्वारा स्त्री का। शांति का रचनात्मक व भावात्मक स्वरूप है—समाज व मनुष्य का समग्र विकास, एकता, सहयोग और स्थिरता। इसलिए एक तरफ तो समाज में हिंसा व शोषण रुकना चाहिए, जबकि दूसरी तरफ मनुष्य व समाज का समग्र विकास भी होना चाहिए। यही शांति का समग्र रूप है। शांति का केन्द्र मानवीय मस्तिष्क है, इसलिए अंतिम रूप से शांति व्यक्ति को अनुभव होनी चाहिए। एक व्यक्ति जब शांति की अवस्था में होगा, तब वह केवल अवरोधों व तनावों से ही स्वतत्र नहीं होगा, वरन् भावात्मक रूप से संतुष्टि व आनन्द का भी अनुभव करेगा। इसलिए शांति का न्यूनतम रूप है—प्रत्यक्ष और संरचनात्मक हिंसा का अभाव और अधिकतम रूप है—पूर्ण शाति। संक्षेप में शांति का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

1 युद्ध या संगठित रूप से सामूहिक हिंसा का अभाव।

2. नकारात्मक शांति—हिंसा के साथ हिंसात्मक सम्बन्धों का अभाव तथा जिसका प्रमुख आधार शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व हो।

3 सकारात्मक शांति जिसमें परस्पर सहयोग हो पर कभी-कभी हिंसा की घटनाएं सम्भव है।

4. अवर्गीकृत शांति, जिसमें हिंसा की पूर्ण अनुपस्थिति परस्पर सहयोग के साथ सम्बन्धित हो।

शांति के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों एवं प्रतिरक्षा सम्बन्धी साहित्य में युद्ध के विकल्प एवं शांति के प्रति दृष्टिकोणों पर कई प्रस्ताव सुझाये गये हैं। इनमें से कुछ युद्ध के कारणों को जानने तथा कुछ अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से हल करने पर बल देते है जबकि कई

विभिन्न प्रकार की सुरक्षा नीतियों एवं उपायों की खोज को महत्त्व प्रदान करते है। निम्नांकित तीन दृष्टिकोण अधिकांशतः शांति दृष्टिकोणों के रूप में मान्य हैं—

1. संस्थात्मक दृष्टिकोण
2 कार्यात्मक दृष्टिकोण
3 आरोग्यकर दृष्टिकोण

संस्थात्मक दृष्टिकोण

शांति स्थापित करने के लिए संस्थाओं का प्रावधान 20वीं शताब्दी से पूर्व नहीं था। संस्थाओं द्वारा शांति स्थापित करना तथा उसे बनाए रखने की प्रक्रिया का विकास इसी शदी की देन है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय स्तर पर विभिन्न संस्थाओं का उदय हुआ, जिनका मुख्य उद्देश्य था विश्वशांति बनाए रखना। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अतिरिक्त विभिन्न देशों के मध्य अनेक संधियों के सम्पन्न होने के परिणाम स्वरूप कई क्षेत्रीय संस्थाओं का भी उदय हुआ। इन संस्थाओं ने स्थानीय विवादों का शांतिपूर्ण वार्ताओं द्वारा निपटारा शांति के लिए निरापद मार्ग प्रशस्त करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। मूलतः संस्थाओं की सफलता इनके उपयोग पर निर्भर है।

कार्यात्मक दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण सुरक्षा संगठनों को स्थापित करने की अपेक्षा सामान्य हितों तथा आत्मनिर्भरता पर बल देता है। पॉमर एवं परकिन्स के अनुसार—"इस दृष्टिकोण का लक्ष्य है—राष्ट्रों के मध्य सहयोग बढाना, जो राजनैतिक स्तर पर लगभग दुर्लभ है। .... दूसरी तरफ राष्ट्र आर्थिक, सामाजिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में परस्पर साथ मिलकर कार्य करने के इच्छुक है—ऐसा सहयोग न केवल मूल्यवान् है, अपितु इसके द्वारा ऐसा वातावरण तैयार करने में सहायता मिलती है, जिससे राष्ट्रों एवं व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधा जा सकता है।"

आरोग्यकर दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण दूरगामी है, इसके अन्तर्गत गरीबी, भूखमरी, अकाल, जातीय एवं वर्ग शोषण इत्यादि आर्थिक एवं सामाजिक बुराइयों पर सुनियोजित आक्रमण किया जाता है। इन कार्यों के लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय एजेन्सियों का ही सहयोग लिया जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि स्थायी शांति हेतु आरोग्यकर दृष्टिकोण ही उपयुक्त है क्योंकि इसी दृष्टिकोण के द्वारा राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएं जो युद्ध या तनाव को जन्म देती है, को स्थानीय स्तर पर ही हल करके अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को चिरस्थायी बनाया जा सकता है।

शांति शिक्षा

शांति शिक्षा की आवश्यकता

वर्तमान में शांति शिक्षा की अभिरूचि केवल शांति और युद्ध की समस्या तथा राजनैतिक संघर्षों के विश्लेषण एवं अध्ययन तक ही सीमित है। शांति की नवीन परिभाषा के अनुसार युद्ध या हिंसा, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में सतत विद्यमान है। क्योंकि कुविकास (Maldevelopment) गरीबी, आंतरिक हिंसा और युद्ध में एक निकट सम्बन्ध देखा जा सकता है। इसलिए युद्ध विरोधी साधनों का विकास व खोज आवश्यक है। इन युद्ध विरोधी साधनों का उद्देश्य केवल युद्ध और हिंसा को समाप्त करना ही नहीं है अपितु सभी प्रकार की हिंसा और समाज में सभी स्तरों में व्याप्त सभी प्रकार के शोषण को समाप्त करना है। इसलिए शांति शिक्षा का आन्दोलन वस्तुतः सम्पूर्ण व मूलभूत परिवर्तन का है। अहिंसा हिंसा का विरोध मात्र नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की सम्पूर्ण शक्ति है। इस प्रकार शांति शिक्षा का विचार नये समाज के निर्माण के लिए है। शांति शिक्षा में शांति के इस नवीन सप्रत्यय को सम्मिलित करना होगा जिससे समाज परिवर्तन के साथ अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तन व कलह-शमन भी सम्भव हो सके।

शांति शिक्षा के विचार का विकास

पाश्चात्य जगत् में शांति शिक्षा का विचार सर्वप्रथम कोमेनियस ने 1667 में प्रकाशित अपनी पुस्तक एंजेल ऑफ पीस में रखा था। बाद में रूसो शांति शिक्षा के विकास में मील के पत्थर बने। उनके शांति शिक्षा सम्बन्धी विचार का आधार था—"मनुष्य स्वभाव से

शांतिप्रिय है, जब उसे अपने जीवन पर कोई खतरा नजर आता है, तभी वह हिंसक बनता है।" रूसो के पश्चात् पेस्टालॉजी व फ्रोबल ने शांति शिक्षा को एक नई दिशा दी। फ्रोबल का मानना था—बच्चे की प्रारंभिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण तथ्य शांति शिक्षा है। वयस्कों के लिए जीने का शांतिपूर्ण तरीका हो, जिससे भाषा, विचार और क्रिया के बीच सामंजस्य स्थापित हो सके। 19वीं शताब्दी में शांतिशिक्षा समाजवाद से प्रभावित हुई। मार्क्स, लेनिन आदि समाजवादियों ने कहा—शिक्षा सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए होनी चाहिए। 20वीं शदी में शांतिशिक्षा को अमेरिका में विकासशील शिक्षा (Progressive Education) तथा सोवियत संघ में स्वतंत्र शिक्षा (Free Education) की सज्ञा दी गई।

प्रथम विश्वयुद्ध के पहले शांति शिक्षा का विषय नहीं था। 1890 में केवल नीदरलैण्ड में इसे पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया था, जहां मोल्केनबोवर ने इसे अध्यापकों को पढाने के लिए कहा। बाद में बूमन, मॉण्टेसरी, बैकमेन, डेसबर्ग आदि कई शिक्षाशास्त्री शांति शिक्षा से जुड़े। ये सभी शिक्षाशास्त्री नीदरलैण्ड की शांति शिक्षा से प्रभावित थे। इसी समय शांति शिक्षा के साथ-साथ शांति के लिए शिक्षा का विचार भी सामने आया। शांति शिक्षा का अर्थ है—शांति स्थापित करने के लिए लोगों को शिक्षित-प्रशिक्षित करना। शांति के लिए शिक्षण का उद्देश्य है—युद्ध व शस्त्रीकरण का समाज पर क्या दुष्परिणाम होगा, इससे सम्बन्धित जानकारी लोगों को बताना तथा उन दुष्परिणामों को दूर करने के उपायों को सुझाना। शांति के लिए शिक्षण के तीन मुख्य प्रतिनिधि हुए है—फोयरस्टीर, मॉण्टसरी व ओएस्टरिच, जिन्होंने शांति शिक्षा का विकास किया।

फोयरस्टीर का मानना था—"मनुष्य अपने प्राकृतिक स्वभाव का दमन कर आध्यात्मिक उत्थान का प्रयत्न करता है। आध्यात्मिक उत्थान तभी सम्भव हो सकता है जब वह विश्वात्मा से मिल जाए, इसके लिए शांति शिक्षा प्रभावी है क्योंकि शांति का अर्थ ही है—विश्वात्मा

के समकक्षता।'' मॉण्टसरी का मानना था—''बच्चे का निर्माण तो स्वयं होता है। शिक्षा का कर्त्तव्य बस इतना ही है कि वह उस निर्माण में जो बाधाएं आयें, उसे दूर कर दें।'' अर्थात् एक ऐसा पर्यावरण तैयार कर देना, जिसमें बच्चा स्वयं के सिद्धान्तों के आधार पर अपना निर्माण व विकास कर सके। ओएस्टरिच का मानना था—''शांति केवल संस्कृति के पुनर्निर्माण से ही सम्भव हो सकती है। प्रत्येक व्यक्ति इस संस्कृति का एक घटक है। व्यक्तिगत स्तर पर वह एक अंश दिखाई देगा जबकि समूह में भाईचारे व मानवीयता की भावना विकसित होगी जो उत्पादक और सम्पूर्ण शिक्षा से ही आएगी तथा ऐसी शिक्षा शांतिपूर्ण होगी।'' उन्होंने यह भी कहा—शांति शिक्षा, यह एक पुनरुक्ति है। सही शिक्षा, सभी के लिए सभी लोगों में—यही तो शांति का आदर्श है।''

शांति शिक्षा के विकास में ड्यूवी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। ड्यूवी ने कहा—''वह वातावरण जिसमें शिक्षा ली जाती है, शिक्षा की गुणवत्ता पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। शांति शिक्षा हमारे जीवन जीने का रास्ता होना चाहिए। समाजवादी विचारकों में केवल टॉलस्टाय ने ही शांति शिक्षा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रभाव छोड़ा। उन्होंने कहा—''एक व्यक्ति स्वयं में आस्था, नैतिकता, भाईचारे व शांति के लिए ही शिक्षित होना चाहिए।''

शांति शिक्षा का जो स्वरूप वर्तमान में है, उसका विकास द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हुआ है। 1945 के पश्चात् शांति शिक्षा में तीन बातें जुड़ीं—

1 अन्तर्राष्ट्रीय समझ विकसित करने के लिए शिक्षा

2. राजनैतिक शिक्षा एवं

3. वैशविक शिक्षा।

अन्तर्राष्ट्रीय समझ को शांति शिक्षा में सम्मिलित करने का विचार यूनेस्को के प्रयत्नों से सम्भव हुआ। राजनैतिक शिक्षा का विचार 1960 में कोरिया और वियतनाम के युद्धों के परिणाम स्वरूप सामने आया।

वैशविक शिक्षा का विचार प्रो. गाल्टुंग एवं फैरी के इस सिद्धान्त से विकसित हुआ—"शांति शक्ति के समान बंट्वारे व संसाधनों के समान बंटवारे के बिना कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती।"

शांति शिक्षा सम्बन्धी विचार को भारतीय वाड्मय के आधार पर इस रूप में रखा जा सकता है—विश्वशांति तभी सम्भव है, जब प्रत्येक व्यक्ति अपने मन-मस्तिष्क को इस हेतु तैयार करे और ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब व्यक्ति के शरीर, मन, भाव और भाषा के बीच सही समन्वय हो अर्थात् सम्पूर्ण मानव का निर्माण हो।

अन्तर्राष्ट्रीय समझ के लिए शिक्षा

यद्यपि इस विचार का उद्गम 1940 से पूर्व ऐसे संगठ्नों में हो चुका था जो अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के क्षेत्र में कार्यरत थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् शांति के प्रति आदर्शों को व्यवहार में लाने हेतु नये संगठनों (Friendship among children and youth एव American Friends School Affiliation Service) का उदय हुआ। पुराने प्रतिद्वन्द्वी फ्रांस और फैडरल जर्मनी के बीच शांति की शुरुआत के लिए पेस क्रिस्टी (Pase Chiristi) ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन संगठ्नों का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय समझ को विकसित करना था, जिससे विश्व और अधिक शांतिपूर्ण हो सके।

1974 में यूनेस्को ने अन्तर्राष्ट्रीय समझ, सहयोग और शांति के लिए शिक्षा तथा मानवाधिकार एवं मूलभूत स्वतंत्रता से सम्बन्धी शिक्षा को अनुशंसित किया, जो शांति शिक्षा के प्रति एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कदम था।

राजनैतिक शिक्षा

शांति शिक्षा के विकास का दूसरा कदम शीतयुद्ध, कोरिया संकट एवं वियतनाम संकट के प्रतिक्रिया स्वरूप उठाया गया, जिसका पूर्ण विकास 1970 में हुआ तथा राजनैतिक शिक्षा को स्वीकृति मिली। यद्यपि शिक्षाशास्त्रियों द्वारा शांति शिक्षा के विचार को गम्भीरतापूर्वक

नहीं लिया गया। अधिकांश लोगों की मान्यता थी—शांति राज्य का मामला है, इसलिए सरकार से सम्बन्धित है।

अन्तर्राष्ट्रीय समझ के प्रति घटती आशा के बावजूद परमाणु शस्त्रों के खतरे एवं शांति आन्दोलनों के अनुभव—इन दो तत्त्वों ने शांति शिक्षा के इस नये स्वरूप को उजागर किया। नये स्वरूप के विचार में यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अनुभव था कि शांति की दिशा में संरचनात्मक परिवर्तन राजनैतिक परिवर्तनों का परिणाम है।

शांति शिक्षा के इस संप्रत्यय का प्रबल पक्षधर गियासेकी (Giesecke) था जिसने 1960 में अपना सिद्धान्त विकसित कर समाज के सभी स्तरों के मूलभूत प्रजातंत्रीय ढांचे पर बल दिया। गियासेकी ने अपने सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप को व्याख्यायित करते हुए शांति शिक्षा के निम्न उद्देश्यों की चर्चा की—

1. संघर्षो को विश्लेषित करना सीखना।
2. सामाजिक सन्दर्भो में संघर्षो का परीक्षण करना।
3 ऐतिहासिक चेतना को उभारना।
4 राजनैतिक सहभागिता के अनुभव का चातुर्य प्राप्त करना।

वैशविक शिक्षा

1970 के पश्चात् यह विचार सामने आया कि सत्ता के समान खण्ड एवं संसाधनों के समान बंटवारे के बिना शांति कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती। यह विचार जो न्याय व संरचनात्मक हिंसा के विश्लेषण पर आधारित था—शांति शिंक्षा के क्षेत्र में एक नया विकास था, इसे ही वैशविक शिक्षा का नाम दिया गया।

गाल्टुंग के विचार में वैशविक शिक्षा राष्ट्रों के बीच रचनात्मक सहयोग पर बल देती है तथा अत्याचारियों द्वारा आरोपित प्रतिस्पर्धा एवं विरोधों को समाप्त करती है। इसी संदर्भ में फ्रेयरी (Freire) घ्का कहना है—मनुष्य विश्व को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने तथा बदलने के लिए स्वयं इससे अलग हो सकता है तथा

इस आलोचनात्मक दृष्टि तथा स्वयं की चेतना के आधार पर अपने विश्व की रचना स्वयं कर सकता है।

गाल्टुंग व फ्रेयरी के इन्हीं विचारों पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय शांति-शोध एसोसियेशन के शांति-शिक्षा कमीशन ने ऐसे लोगों से संचार की एक कार्य-योजना तैयार की है जो इस अत्याचार की प्रक्रिया के अंग हैं। नेपल्स, बैंगलोर, न्यूयार्क, अमस्टरडम, मेलबोर्न की गन्दी बस्तियों में रह रहे लोग अत्याचार के इस तंत्र के विरूद्ध संघर्ष कर रहे हैं तथा अपनी स्थितियों को सुधारने हेतु संगठन एवं संचार का प्रयत्न कर रहे हैं। इसके कार्यों में नेपल्स व बैंगलोर के संगठन सहायता व मार्गनिर्देशन कर रहे हैं।

शांति शिक्षा—सैद्धान्तिक प्रस्ताव

शांति शिक्षा के मुख्यतः तीन सैद्धान्तिक प्रस्ताव हैं:—

1 शांति शिक्षा की वैधता।

2 शांति शिक्षा एवं निःशस्त्रीकरण शिक्षा।

3. शांति और शांति शिक्षा की दुविधाएं।

शांति शिक्षा की वैधता

यह शांति शिक्षा की औचित्यता का दृष्टिकोण है जो शांति शिक्षा की विषय-वस्तु व व्यवहार के अन्तर पर निर्भर है। इसमें निम्नांकित सिद्धान्त सम्मिलित हैं—

(अ) इस प्रकार की शांति शिक्षा हिंसा का विरोधकर सैनिक विरोधी अभिवृत्ति का निर्माण करती है तथा युद्ध सम्बन्धी खेल, खिलौनों तथा हिंसक प्रचार का निषेध करती है।

(ब) यह आक्रामकता को कम करने हेतु इसके कारणों का पता लगाकर, इन पर कैसे काबू पाया जाए ताकि समाज को कम से कम क्षति हो, इसकी प्रक्रिया सिखाती है।

(स) यह संघर्ष को शांति शिक्षा का अंग मानती है तथा इसका लक्ष्य लोगों को यह बताना है—संघर्ष मानव-समूहों और समाज

का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। संघर्ष का भय व्यक्ति को निषेधात्मक परिणामों की तरफ ले जाता है। शांति शिक्षा लोगों को यह बतलाए कि संघर्ष से कैसे निपटा जाए ?

(द) पूर्वाग्रहों तथा शत्रु के प्रति विरोधात्मक रवैये को समाप्त कर व्यक्तियों व संस्कृति के प्रति स्वस्थ-समझ को विकसित करना।

(य) एक राष्ट्र द्वारा स्वयं अपने ही हितों की पूर्ति युद्ध का एक प्रमुख कारण है। इस समस्या के निराकरण हेतु विश्व नागरिकता को प्रोत्साहन तथा विश्व सरकार को राज्यों द्वारा अपनी-अपनी संप्रभुता सौंप देना आवश्यक है।

(र) इस दृष्टिकोण के अंतर्गत व्यक्ति स्वयं युद्ध और शांति के लिए कार्य कर सकते हैं। वे सत्ता व प्रभाव के उन क्षेत्रों को उखाड़ फेकें जो अशांति पैदा करते हैं तथा वे अपनी रचनात्मक सहभागिता, सहयोग, आत्मविश्वास एवं ज्ञान से समाज में परिवर्तन करें।

शांति शिक्षा और निःशस्त्रीकरण शिक्षा

(अ) आदर्शवादी संकल्पना—इस विचार का विकास यूनेस्को के उस घोषणा-पत्र से हुआ, जिसमें यह कहा गया है—"युद्ध मानव-मस्तिष्क में जन्म लेते हैं।" वर्तमान अशांतिपूर्ण स्थितियों, जिनमें राष्ट्र सुरक्षा हेतु बड़े पैमाने पर शस्त्रीकरण करते हैं, का समाधान वर्तमान पीढ़ी के विचारों में शांतिपूर्ण भविष्य हेतु क्रमशः रूपान्तरण है। यह एक आदर्शवादी सिद्धान्त है जिसका विश्वास है—सहिष्णुता तथा परस्पर स्वीकृति के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों से पैदा होने वाली अशांति के स्थान पर शांतिपूर्ण भविष्य का निर्माण किया जा सकता है।

(ब) वैज्ञानिक संकल्पना—इस सिद्धान्त के अनुसार युद्ध के कारणों तथा शस्त्रीकरण के समूचे तंत्र के प्रभावों से सम्बन्धित वैज्ञानिक शोध के निष्कर्षों को स्कूल के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करना चाहिए। यथासंभव पूर्व और पश्चिम दोनों में एक समान पाठ्य-पुस्तकें तथा अध्यापन सामग्री हो।

(स) वैचारिक संकल्पना—इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा समाज परिवर्तन का ही साधन नहीं है अपितु यह सामाजिक प्रक्रिया तथा तंत्र के पुनः प्रस्तुति का भी साधन है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रभावशाली नियंत्रण में पूर्ण एवं सामान्य निःशस्त्रीकरण शांति-शिक्षा का लक्ष्य नहीं है, अपितु यह शस्त्र नियंत्रण के प्रभावशाली ढंग के बारे में शिक्षा है जो शस्त्रों की ऊपरी सीमा के लिए स्वीकृति प्रदान करता है।

(द) राजनीतिक संकल्पना—यह सिद्धान्त शासक व शासित के सम्बन्धों पर निर्भर है जो यह बताता है कि शासितों को अपनी स्थितियों के प्रति सचेत हो जाना चाहिए तथा शोध एवं शिक्षा की समन्विति के प्रयोग द्वारा शांतिपूर्ण विश्व का निर्माण करना चाहिए। अर्थात् इस अर्थ में शांति शिक्षा युद्ध के कारणों व अविकास से सम्बन्धित ज्ञान का स्रोत ही नहीं अपितु यह उन स्थितियों जिनमें ऐसी शिक्षा का निर्णय हुआ है तथा शिक्षा की विषयवस्तु के बीच सम्बन्धों की भी आलोचनात्मक समझ है।

शांति-शिक्षा की दुविधाएं

यह दृष्टिकोण दो मूलभूत प्रश्नों से सम्बन्धित है—

1. क्या हिंसा के द्वारा शांतिपूर्ण समाज रचना सम्भव है या यह केवल अहिंसक कार्यों एवं साधनों से ही सम्भव है?

2. क्या शांतिपूर्ण समाज रचना संरचनात्मक परिवर्तन से सम्भव है या मानवीय विकास से?

उपर्युक्त प्रश्नों पर विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि सैनिक शिक्षा, युद्ध एवं हिंसा से शांति स्थापना सम्भव नहीं है। पूंजीवादी व समाजवादी ढांचों के ढह जाने से यह और भी अधिक स्पष्ट हो चुका है। शांति केवल अहिंसक प्रशिक्षण और अहिंसक कार्यों से ही सम्भव है। अहिंसक आंदोलनकारी जैसे—गांधी, मार्टिन लूथर किंग आदि ने अहिंसा की शक्ति का पूर्ण परिचय प्रस्तुत किया है।

संरचनात्मक परिवर्तन से समाज में शांति के पक्षधर गाल्टुंग रहे हैं। उनका मानना है—"शासक उच्च वर्ग, शिक्षा के लक्ष्यों का निर्धारण वर्तमान ढांचे की सुरक्षा के लिए करता रहा है, जो हिंसा की संस्कृति है। हमें इस संस्कृति को सरंचनात्मक परिवर्तन से अलग करना होगा क्योंकि संरचनात्मक हिंसा असमान सम्बन्धों की प्रतीक है। हमें इस ढांचे के निषेध के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा अन्याय पर आधारित ढांचे को न्याय पर आधारित ढांचे में रूपान्तरित करना चाहिए।

मानवीय सुधार द्वारा शांति स्थापित करने के दृष्टिकोण में मनुष्य को महत्त्व दिया गया है। कांट के अनुसार—

युद्ध कोई ईश्वरीय कार्य या दैविक निर्णय नहीं है।

शांति का अनुभव वर्तमान की आवश्यकता है, जिसे भविष्य के लिए टाला नहीं जा सकता।

यदि राजनीतिज्ञ, शांति कार्यकर्त्ताओं तथा शिक्षा-शास्त्रियों को अवकाश दें तो शांति-शिक्षा संभव है।

शांति आत्मविश्लेषण का और विशेषकर नैतिक परिप्रेक्ष्य में आत्म-विश्लेषण का अवसर देती है। इसका प्रारंभ सामान्य चीजों जैसे—सहयोग के लिए तत्पर रहना, दैनिक अनुभवों से सीखना आदि को व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बना लेना चाहिए।

शांति शिक्षा की सीमाएं

इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पिछले लगभग तीन दशकों से शांति शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। पवित्र उद्देश्यों तथा बहुत से प्रयत्नों के बावजूद शांति शिक्षा का कार्यक्रम कई कारणों से बाधित रहा है, विशेषकर तीसरी दुनिया के परिप्रेक्ष्य में।

शांति शिक्षा का कार्यक्रम केवल कुछ उच्च वर्ग तक सीमित रहा है तथा यह मानव-समूहों तक पहुंचने में असफल रहा है।

सम्पूर्ण शांति आन्दोलन बौद्धिक व संगठनात्मक—दोनों ही स्तरों पर यूरोप केन्द्रित रहा है। तीसरी दुनिया के व्यक्ति, संस्थाएं तथा संगठन परिधि में ही रहे है।

परमाणु अस्त्र-शस्त्रों का खतरा तथा तीसरी दुनिया में भूख, कुपोषण, अविकास, सामाजिक अन्याय, आतंकवाद आदि अधिक महत्त्वपूर्ण रहे है। राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इन समस्याओं से जूझने के प्रयत्न ही प्रमुख रहे हैं फलस्वरूप शांति शिक्षा की तरफ लोगों व राष्ट्रों का ध्यान कम गया है।

व्यक्तिगत स्तर पर भी शांति शिक्षा की कुछ समस्याएं हैं। चूंकि शांति शिक्षा अभी तक उच्च वर्ग तक पहुंच पाई है जबकि ऐसे आधुनिकता वाले उच्च वर्गीय व्यक्ति अपने जीवन को भौतिकता की चकाचौ के कारण खाली एवं अर्थहीन पाते हैं।

उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद शांति शिक्षा को नकारा नहीं जा सकता है। इसकी आवश्यकता पूरे विश्व को है, भविष्य में निर्णय पर इसकी आवश्यकता को नहीं छोडा जा सकता।

शांतिशोध

एक समस्या पर किया जाने वाला अध्ययन उस तत्त्व की ओर इंगित करता है जो अशांति के लिए जिम्मेदार है तथा जो व्यक्त और अव्यक्त हिंसा से लड़ने के लिए कदम निर्धारित करने में सहयोग करे और सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विकास को आगे बढ़ाये, ऐसे कार्य को शांतिशोध कहा जा सकता है।

पाश्चात्य विचारक गुनार माइडल (Gunnar Myrdal) के अनुसार—"शांति शोध समाजविज्ञानों के विभिन्न क्षेत्रों में एक व्यवस्थित अध्ययन है जो संघर्ष, तनाव और युद्धों के बारे में हमारी समझ और सोच में सुधार लाता है।"

उपर्युक्त दोनों अर्थों को देखें तो प्रथम परिभाषा ही व्यापक मानी जाएगी क्योंकि वहां केवल अशांति के लिए जिम्मेदार तत्त्वों पर नियंत्रण पाने की बात ही नहीं है बल्कि सामाजिक विकास के लिए कदम निर्धारित करने की बात भी शामिल है। शांति युद्ध का अभाव मात्र नहीं है, शांति समाज का समग्र विकास है।

वर्तमान में शांतिशोध की अभिरुचि केवल शांति और युद्ध की समस्या तथा राजनैतिक संघर्षों तक ही सीमित है। शांति की नवीन परिभाषा के अनुसार युद्ध या हिंसा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में सतत विद्यमान है। क्योंकि कुविकास (Mal development) गरीबी, आंतरिक हिंसा और युद्ध में एक निकट संबंध देखा जा सकता है। इसलिए युद्ध विरोधी साधनों का विकास व खोज आवश्यक है। इन युद्ध विरोधी साधनों का उद्देश्य केवल युद्ध और हिंसा को समाप्त करना नहीं है अपितु सभी प्रकार की हिंसा और समाज के सभी स्तरों में व्याप्त सभी प्रकार के शोषण को समाप्त करना है। इसलिए

शांतिशोध का आन्दोलन वस्तुतः संपूर्ण व मूलभूत परिवर्तन का है। अहिंसा, हिंसा का विरोधी मात्र नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन की शक्ति है। इस प्रकार शांतिशोध का विचार नये समाज निर्माण के लिए है। शांतिशोध में शांति के इस नवीन संप्रत्यय को सम्मिलित करना होगा, जिससे समाज परिवर्तन के साथ अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तन व कलह-शमन भी संभव हो सके।

शांतिशोध का उपर्युक्त अर्थ व विचार इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि शांतिशोध किसी विशेष अनुशासन या विषय (Discipline) से संबंधित नहीं है, इसे किसी भी दिशा में विकसित किया जा सकता है जो दिशा शांतिशोधकर्त्ता के मन में हो। इसलिए शांतिशोध अन्तः- अनुशासित (Inter Disciplinary) है। उदाहरणार्थ किसी भी देश की समस्या केवल राजनैतिक ही नहीं होती। वे आर्थिक भी हैं, सामाजिक भी हैं, सांस्कृति भी हैं। किसी एक क्षेत्र के आधार पर हमारा अध्ययन गलत होगा। किसी भी समस्या को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखकर उसके निदान के प्रयत्न हों तभी शांति संभव होगी। गाल्टुंग का मानना है—शांतिशोध में हम विषय केन्द्रित क्षेत्र को समस्या केन्द्रित क्षेत्र में बदलें जिससे समस्या की गहराई तक पहुंचा जा सके और उसका निदान संभव हो सके। समस्या के निदान के लिए शांतिशोध में साधन-शुद्धि पर सदैव ध्यान रखा जाएगा।

"इसलिए शांतिशोध समाज, राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर में योजनाबद्ध प्रयत्नों द्वारा अहिंसक तरीके से सामाजिक परिवर्तन लाने के लक्ष्य का अनुसरण करता है।"

गाल्टुंग ने अपने एक निबन्ध "ए क्रिटिकल डेफिनेशन ऑफ पीस" में कहा है—"शांतिशोध उन स्थितियों को समझने का प्रयास है जो हमें अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्सामूहिक हिंसा को रोकने में योगदान करता है तथा राष्ट्रों और जनता के बीच सामंजस्यपूर्ण तथा रचनात्मक संबंधों के विकास में सहायक होता है।"

शांतिशोध को व्यापक रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

1. संघर्ष-शोध और
2. शांति के लिए पहल।

उपर्युक्त दोनों क्षेत्रों से संबंधित शोध शांतिशोध है।

शांतिशोध के उद्देश्य (Objectives)

शांतिशोध के उपर्युक्त विभाजन इसके उद्देश्यों को भी स्पष्ट करते हैं अर्थात् संघर्ष-शोध व शांति के लिए पहल इसका प्रमुख उद्देश्य हो सकता है। समाज में अशांति की जो स्थितियां है, संघर्ष या तनाव की जो स्थितियां है, उनके कारणों का पता लगाना तथा उनके निराकरण के उपाय सुझाना—यह शांतिशोध का प्रमुख उद्देश्य होगा। दूसरा महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होगा—समाज का समग्र विकास करना क्योंकि सामाजिक असमानताएं हिंसा का कारण बनती है इसलिए सबका समग्र विकास इसका एक और मुख्य उद्देश्य हो सकता है। इनके अतिरिक्त निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत शांतिशोध के उद्देश्यों पर विचार कर सकते हैं—

अहिंसक समाज रचना

शांतिशोध का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है—अहिंसक व गरीबी मुक्त समाज की रचना। यद्यपि कोई भी समाज ऐसा नहीं है जो केवल हिंसा या केवल अहिंसा पर चल सके। जीवन निर्वाह के लिए हिंसा आवश्यक है पर समाज-रचना अहिंसा के आधार पर हुई है। एक दूसरे के हित में बाधा न डालने का समझौता सामाजिक जीवन का सुदृढ़ स्तम्भ है। अतः समाज में जो वर्ग भेद है, संघर्ष हैं उन्हें मिटाना आवश्यक है। शांतिशोध का यह उद्देश्य होगा कि एक ऐसे समाज की रचना करें जिसमें हिंसा का वर्चस्व न हो तथा सबका समान विकास हो सके।

निःशस्त्रीकरण

शस्त्रास्त्रों के भयावह खतरे के बावजूद शस्त्रीकरण की होड जारी है। पारस्परिक अविश्वास व शक्ति संतुलन का सिद्धान्त इस समस्या को और अधिक गहरा बनाये हुए है। शांति स्थापना आर्थिक कल्याण व पुननिर्माण, समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान तथा आणविक संकट व पर्यावरण प्रदूषण से बचने के लिए निःशस्त्रीकरण की अपेक्षा है। शांतिशोध का उद्देश्य है—शस्त्रीकरण से होने वाले संघर्षो का पता लगाकर उनके समाधान के रूप में निःशस्त्रीकरण को प्रस्तुत करना क्योंकि विश्वशांति का एक मार्ग यह भी है।

समुचित व संतुलित विकास के लिए

विश्व में कुविकास की समस्या बडी जटिल है। एक ओर तो विकसित राष्ट्र हैं, जहां भौतिक समृद्धि है, शक्ति है फिर भी वहां अशांति है। दूसरी तरफ अविकसित और पिछडे राष्ट्र है जहां गरीबी अशांति का कारण बनी हुई है। अर्थात् असंतुलित विकास विश्व शांति के लिए खतरा बन गया है। शांतिशोध का उद्देश्य है—इस कुविकास या असंतुलित विकास के कारणों का पता लगाकर समुचित व सतुलित विकास का मार्ग प्रशस्त करे।

पारस्परिक सहयोग

राष्ट्रों की परस्पर अन्तर्निर्भरता इतनी अधिक बढ गई है कि पारस्परिक सहयोग के बिना कार्य नहीं चल सकता। पारस्परिक सहयोग की कमी के कारण अनेक संघर्ष भी होते है। आज आवश्यकता है कि पारस्परिक सहयोग के क्षेत्र को बढायें और प्रतिस्पर्धा व अविश्वास की भावना को छोड़ें। ये शस्त्रीकरण व अशांति के स्रोत है जबकि पारस्परिक सहयोग विश्वशांति का आधार है। शांतिशोध का उद्देश्य है पारस्परिक सहयोग के क्षेत्रों की खोज कर पारस्परिक सहयोग को बढाये।

नव्य-उपनिवेशवाद पर नियंत्रण

उपनिवेशवाद की समाप्ति के पश्चात् नव्य-उपनिवेशवादी नीतियां सामने आई है। शक्तिशाली राष्ट्र अविकसित राष्ट्रों के आर्थिक विकास में इसलिए रूचि लेते है ताकि उनकी अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण स्थापित कर उस राष्ट्र को अपने नियंत्रण में ले सकें। शांतिशोध का यह उद्देश्य है कि उपनिवेशवाद के इस नवीन संस्करण के रूपों व कारणों का पता लगाकर निदान का मार्ग प्रशस्त करे।

संरचनात्मक हिंसा

समाज की संरचना में जो दोष है उनके कारण हिंसा को बढ़ावा मिलता है। शांतिशोध का यह एक और उद्देश्य है कि वह समाज-व्यवस्था और समाज की जडों में जो हिंसा के बीज छुपे है, उनका पता लगाकर संरचनात्मक हिंसा पर काबू पाये।

शांतिशोध की आवश्यकता

निम्नांकित विषयों के अध्ययन के लिए शांतिशोध की आवश्यकता है—

विश्व के बड़े धर्मों का शांति के प्रति क्या दृष्टिकोण है

यह बडा महत्त्वपूर्ण है कि विश्वशांति का मार्ग विभिन्न धर्मो के शांति के प्रति दृष्टिकोण से जुडा हुआ है। विश्व में अनेक ऐसे युद्ध हुए हैं जो धार्मिक आधारों पर लड़े गये हैं। प्रारंभ से धर्म और राजनीति के बीच संघर्ष चलता रहा है। आज इस बात की अपेक्षा है कि विभिन्न धर्मो का शांति के प्रति क्या दृष्टिकोण है इसका पता लगाया जाए तथा शांति का एक सर्वसम्मत आधार प्रस्तुत करें।

समसामयिक समाज में समाज परिवर्तन की क्या आवश्यकता है

चीन, रूस, फ्रांस आदि राष्ट्रों में समाज परिवर्तन का इतिहास खूनी क्रांतियों का इतिहास है। समाज परिवर्तन के लिए इतना खून बहाया जाने के बावजूद भी वांछित परिवर्तन नहीं आ सके है। हमें

समस्या को दूसरे दृष्टिकोण से भी सोचना होगा। यदि हिंसा समस्या का समाधान नहीं हो सकती तो अहिंसक साधनों से समाज परिवर्तन की बात सोचनी होगी। इस दिशा में गांधी, विनोबा, जयप्रकाश नारायण व आचार्य तुलसी के प्रयास महत्त्वपूर्ण हैं। अहिंसक साधनों से समाज परिवर्तन के लिए जिन साधनों को काम में लिया जाता रहा है उनमें सत्याग्रह, स्वदेशी, अहिंसा-प्रशिक्षण, हृदय परिवर्तन आदि प्रमुख हैं। शांतिशोध की आवश्यकता इसलिए है, वह यह पता लगाये कि सम-सामयिक समाज परिवर्तन की क्या आवश्यकता है ? कैसे समाज-परिवर्तन किया जा सकता है और उसके क्या-क्या साधन हो सकते है ?

शांति संगठनों की क्या भूमिका है

शांतिशोध की आवश्यकता इसलिए भी है कि वह यह पता लगाये कि विश्व-शांति की दृष्टि से शांति संगठनों की क्या भूमिका हो सकती है ? विश्व के अनेक राष्ट्रों में कुछ सरकारी व गैर सरकारी संस्थान (NGO's) हैं जो शांति के कार्यक्रमों में संलग्न हैं। पर उन संगठनों के बीच न तो कोई तालमेल है और न कोई संचार। शांतिशोध इस दिशा में प्रयत्न करे कि किस तरह इन शांति संगठनों को एक विश्वव्यापी नेटवर्क से जोडा जा सकता है और कैसे इनमें समन्वय स्थापित कर विश्वशांति के प्रयासों को गति दी जा सकती है।

शांतिशिक्षण की क्या समस्याएं और चुनौतियां हैं

शांतिशोध की आवश्यकता शांतिशिक्षण की समस्याओं और चुनौतियों के कारणों की खोज और निदान का मार्ग प्रशस्त करने के लिए भी है। गाल्टुंग का विचार रहा है—"शांति, शक्ति के समान बंटवारे व संसाधनों के समान बंटवारे के बिना कभी भी प्राप्त नहीं की जा सकती"—यह विचार शांति शिक्षण का आधार बना है। व्यक्ति संस्कृति का एक तत्त्व है, इसलिए वह इसके एक अंग के रूप में रहेगा पर समूह में भाईचारे या मानवता की भावना होगी। शांति शिक्षण का एक आधार यह भी हो सकता है।

उपर्युक्त समस्याओं के अलावा कुछ और महत्त्वपूर्ण समस्याएं हैं जिनके लिए शांतिशोध की आवश्यकता है—

1. अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को पुनर्व्यवस्थित करने के लिए।

2 राजनैतिक संगठनों में विशेष रूप से तनाव के समय और नक्सलवादियों के बीच हिंसा की रोकथाम के लिए।

3 आर्थिक ढांचे में विशेषकर जमींदार और कृषक तथा पूंजीपति व श्रमिक के संबधो के लिए।

4 संस्कृति के क्षेत्र में जिसमें भाषा, अर्थ, शिक्षा और सांस्कृतिक भिन्नता आदि के कारण संघर्ष हो रहे हैं।

शांति अविभाज्य है

विश्व में शांति से संबंधित दो अवधारणाएं प्रचलित है—पश्चिमी अवधारणा और पूर्वी अवधारणा। पश्चिमी अवधारणा के अनुसार युद्ध का अभाव मात्र शांति है। इसलिए पश्चिमी शांति कार्यकर्त्ता युद्धों को रोकने के लिए प्रयत्नशील है। उनका चिंतन है कि "युद्ध नहीं होंगे तो अशांति भी नहीं होगी।" इस अवधारणा के अनुसार शांति का एक अर्थ है—संगठित और सामूहिक हिंसा का अभाव और दूसरा अर्थ है सामंजस्य (Harmony)। दो विरोधी पक्षों में यदि सामंजस्य स्थापित है तो वहां अशांति का कोई कारण नहीं। अर्थात् सामंजस्य का अभाव भी अशांति का जनक है। पूर्वी अवधारणा शांति के इन अर्थों को नकारात्मक शांति (Negative Peace) की संज्ञा देकर सकारात्मक शांति (Positive Peace) के विचार को विकसित करती है। उनके अनुसार शांति संगठित और सामूहिक हिंसा के अभाव से कहीं अधिक है क्योंकि राष्ट्रों और व्यक्तियों के बीच असमानता, गुलामी, शोषण आदि भी अशांति के महत्त्वपूर्ण कारण बनते है। पूर्वी अवधारणा के अनुसार समाज के हर पक्ष से संबंध होने के कारण शांति समग्र अवधारणा है इसलिए मनुष्य व समाज के समग्र विकास की प्रक्रिया, योजनाबद्ध एवं मानवोपयोगी समाज परिवर्तन ही वास्तविक शांति है और यह परिवर्तन भी सामंजस्य के आधार पर नहीं अपितु समता के आधार पर होना चाहिए। अतः शांति के लिए केवल प्रत्यक्ष और आरोपित हिंसा और शोषण का अभाव ही पर्याप्त नहीं अपितु संरचनात्मक हिंसा (Structural Violence) का अभाव भी जरूरी है। पश्चिमी युद्ध विरोधी प्रचार का उद्देश्य मात्र संगठित हिंसा को समाप्त करना ही नहीं अपितु सभी प्रकार की हिंसा और समाज के सभी

स्तरों में व्याप्त सभी प्रकार के शोषण व असमानता को दूर करना भी होना चाहिए। इसलिए हमें यह मानना ही होगा कि समग्र शांति की अवधारणा आध्यात्मिक जगत् का जितना आधारभूत सत्य है उतना ही व्यावहारिक जगत् का यथार्थ व अनिवार्य तत्त्व भी है।

शांति समग्र है, अविभाज्य है—इस कथन की सिद्धि के लिए हम कम से कम दो प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं—

1. अस्तित्ववादी प्रमाण और

2. कार्यकरण संबंधी प्रमाण।

पहले हम अस्तित्ववादी तर्क को लें—अस्तित्व शांति रूपी साध्य का साधन है। अस्तित्व विविध आयामी है और उसका लक्ष्य समग्र शांति है। प्रो. गाल्टुंग के अनुसार अस्तित्व के पांच प्रकार हैं—प्रकृति, मानव, समाज, विश्व और संस्कृति। उनके अनुसार इन पांचों अस्तित्वों का साध्य भिन्न-भिन्न होते हुए भी परम साध्य के रूप में ये शांति की अपेक्षा रखते हैं—

प्रकृति का साध्य	—	परिस्थिति का संतुलन है
मानव का साध्य	—	बोधि प्राप्त करना है
समाज का साध्य	—	विकास है
विश्व का साध्य	—	शांति है और
संस्कृति का साध्य	—	पर्याप्तता है।

गहराई से विचार करने पर ये सभी तत्त्व परस्पर अन्तर्ग्रंथित दिखाई देते है। अलग-अलग करके देखने पर हम शांति को नहीं जान सकते। इसका कारण है—मनुष्य, विश्व में घटित प्रत्येक घटना से प्रभावित होता है तथा प्रत्येक घटना को वह स्वयं भी प्रभावित करता है। इसलिए हम किसी एक भी तत्त्व की अवहेलना करके शांति स्थापित नहीं कर सकते। उदाहरणत यदि प्रकृति का संतुलन ठीक नहीं होगा तो शेष चार तत्त्व भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे। "प्रत्येक तत्त्व दूसरे तत्त्व की शांति पर निर्भर करता है", इस तथ्य को हम

इस रूप में भी कह सकते हैं कि सबकी शांति में मेरी शांति निहित है। अस्तित्व के विभिन्न प्रकारों की परस्पर निर्भरता से शांति की अखण्डता सिद्ध होती है। प्रो. गाल्टुंग ने ठीक ही लिखा है—"जब हम शांति के बारे में चर्चा या विचार-विमर्श करते हैं तो इसका आशय इतना ही नहीं है कि शांति केवल राष्ट्रों के बीच में ही हो, बल्कि शांति तो समाज की रग-रग में, मानव जातियों में और यहां तक कि प्रकृति में भी शांति व्याप्त होनी चाहिए।"

कार्यकारण तर्क

हम पहले यह देखें कि शांति की पूर्वावस्था क्या है ? तनाव व संघर्षों के अंत को हम शांति की पूर्वावस्था के रूप में देख सकते हैं। वैयक्तिक स्तर से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के तनाव शांति को भंग करते हैं। प्रश्न होगा तनाव किन कारणों से उत्पन्न होता है ? क्या तनाव का एकमात्र कारण युद्ध ही है ? निश्चित ही नहीं, गरीबी और असमान विकास भी तनाव के कारण है। एकमात्र गरीबी को भी तनाव का कारण नहीं कह सकते। यदि ऐसा होता तो विकसित राष्ट्र जहां पैसे की कोई कमी नहीं है, अशांत नहीं होते। इसलिए यह मानना होगा कि असमान विकास भी अशांति का एक कारण है। एक तरफ समृद्धि है दूसरी तरफ 87 करोड व्यक्ति पढ लिख नहीं सकते, 50 करोड व्यक्तियों के पास रोजगार नहीं, 13 करोड़ बच्चे स्कूल जाने में सक्षम नहीं, 45 करोड भूख व कुपोषण से पीडित हैं, एक करोड 20 लाख बच्चे प्रथम जन्मोत्सव से पहले ही खत्म हो जाते हैं। 2 अरब लोगों के पास पीने का पानी नहीं है, 25 करोड व्यक्ति झुग्गी-झोपडियों में रह रहे है। समृद्ध भी अशांत है और गरीब भी अशांत। समृद्ध अशांत है क्योंकि उन्हें सैनिक भय सता रहा है, सांस्कृतिक विपन्नता उच्छृंखलता पैदा कर रही है, समाज की टूटन रिक्तता बढा रही है, संदेह, भय, संत्रास, प्रदूषण उन्हें भविष्य के प्रति त्रस्त बनाए हुए है। गरीब राष्ट्र अशांत होता है तो विश्व के दूसरे राष्ट्र अशांति से बच नहीं सकते। एक राष्ट्र की टूटन दूसरे

की अशांति का कारण बन जाती है। यही कारण है कि आज अमेरिका जैसे समृद्ध राष्ट्र अविकसित राष्ट्रों के विकास के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, उनके उत्थान के लिए मार्शल योजना जैसी कई योजनएं क्योंकि ऐश्वर्य की अट्टालिकाओं की ऊंचाइयों से उन्हें अपनी कब्रों की गहराइयां भी नजर आ रही हैं। इन कब्रों की गहराइयों को पाटे बिना उनका ऐश्वर्य ज्यादा दिनों तक सुरक्षित नहीं रह सकता।

वस्तुत. हमें इस तथ्य को स्वीकार करना होगा—शांति अविभाज्य है, उसे खण्ड-खण्ड करके कोई भी शांति से नहीं रह सकता। इसलिए गांधी ने समग्र विकास की बात कही। जयप्रकाश नारायण ने सम्पूर्ण क्रान्ति को आवश्यक माना। सबका समग्र व हर क्षेत्र में समान विकास नहीं होता तो शोषक और शोषित, शासक और शासित, पूंजीपति और श्रमिक आदि दो वर्ग सदैव बने रहेंगे और एक वर्ग की अशांति दूसरे वर्ग को भी अशांत बना देगी। इसलिए यह आवश्यक है कि हम शांति को समग्र व अविभाज्य मानकर सम्पूर्ण समाज के समग्र व समान विकास के लिए प्रयत्न करें।

सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा

मानव समाज प्राचीनकाल से आज तक निरन्तर विकसित और परिवर्तित होता चला आ रहा है। प्राचीन और मध्यकाल में जब शिक्षा का प्रसार नहीं था, समाजिक पुनर्निर्माण का कार्य समाज की विभिन्न संस्थाओं द्वारा किया जाता था। आज जब शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हो गया है, तो शिक्षा को ही सामाजिक पुनर्निर्माण का प्रमुख साधन माना जाता है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में—'शिक्षा परिवर्तन व पुनर्निर्माण का साधन है। जो कार्य साधारण समाजों में परिवार, धर्म और सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं द्वारा किया जाता था, वह आज शिक्षा द्वारा किया जा रहा है।''

भारतीय शिक्षा आयोग 1964-66 ने सामाजिक पुनर्निर्माण को आधुनिकीकरण से जोड़ा, जिससे नवीन विचार, नवीन ज्ञान-विज्ञान, तकनीकी आदि द्वारा समान्य जीवन की भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन आ रहा है तथा समस्त समाज का जीवन परिवर्तित हो रहा है। सुख-संवृद्धि की संभावनाएं अधिक प्रशस्त हो रही हैं। मानवीय कौशल, ज्ञान और गतिशीलता में अन्तर आ रहा है जो सम्पूर्ण समाज के आर्थिक और सामाजिक ढांचे को प्रभावित करता है। समाज एक स्थिति से उठकर उन्नत स्थिति की ओर बढ़ता है। इस प्रकार की दशा पुनर्निर्माण की दशा होती है।

सामाजिक पुनर्निर्माण क्या है ?

सामाजिक पुनर्निर्माण हमारे सोचने-समझने और तौर-तरीकों में ऐसा अन्तर है जो हमारे जीवन में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, सभी पक्षों में सुधारात्मक प्रभाव लाता है। राबर्ट हीन

ब्रोनर ने सामाजिक पुनर्निर्माण को "महान् आरोहण" की संज्ञा दी है। उनका मत है—"आर्थिक विस्तार के लिए अनिवार्य पूंजी या संसाधानों की पूर्ति से ही परम्पराओं से जकड़े हुए समाज का पुनरुद्धार नहीं हो सकता तथा इस रूपान्तरण के लिए व्यापक सामाजिक कायापलट भी पर्याप्त नहीं है अपितु आदतों में आमूल परिवर्तन, समय, प्रतिष्ठा, धन और कार्य संबंधी मूल्यों का परिवर्तन तथा स्वयं के दैनिक जीवन के ताने-बाने को भी बदलकर सामाजिक पुनर्निर्माण को संभव बनाया जा सकता है।"

सामाजिक पुनर्निर्माण का संबंध आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था में बदलाहट से लगाया जाता है। समाज की आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था में जब सुधारात्मक परिवर्तन होता है, तब समाज में नवीन प्रवृत्तियों का उदय होता है, नये प्रतिमान स्थापित होते हैं। पुरातन मान्यताएं खण्डित होती हैं तथा विकास की संभावनाएं प्रशस्त होती हैं। रेडोवान ने लिखा है—सभी विकासोन्मुख समाजों में सारे सचेतन प्रयास इस हेतु किये जा रहे हैं कि वे ऐसी संस्कृति को जन्म दें जो तकनीकी युग और सार्वभौमिकता की मांगों को पूरी कर सके।"

पुनर्निर्माण क्यों ?

विश्व के विभिन्न समाजों का अध्ययन करें तो यह जानने को मिलेगा कि विश्व में कुछ समाज ऐसे हैं जो बहुत अधिक विकसित हैं। यह विकास आर्थिक और भौतिक है। यहां संस्कृतियों का विनाश हो रहा है। परिवार, विवाह जैसी सामाजिक संस्थाएं टूट रही हैं। व्यक्ति अकेलापन महसूस कर रहा है। भौतिक चकाचौंध उसे सुखशांति नहीं अपितु तनाव और संघर्ष दे रही है। दूसरी तरफ कुछ समाज ऐसे हैं जहां विकास नगण्य है। भूखमरी, बेकारी, गरीबी, कुपोषण इन समाजों को त्रस्त किये हुए है परिणामतः ये समाज भी अशांत हैं, संघर्षरत हैं। एक तरफ समृद्धि है एक तरफ गरीबी। यह कुविकास अशांति का कारण है, अतः इस कुविकास को दूर कर संतुलित विकास

के लिए इन दोनों ही समाजों के पुनर्निर्माण की आवश्यकता है। यह पुनर्निर्माण विश्व-बन्धुत्व, परस्पर सहयोग एवं सौहार्द द्वारा ही हो सकता है, जिसके लिए शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी।

पुनर्निर्माण का आधार मनुष्य

सामाजिक विकास, परिवर्तन और पुनर्निर्माण का आधार मनुष्य ही है। मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही आविष्कार करता है। जब इच्छाएं असीम हो जाती हैं तब परस्पर संघर्ष अवश्यंभावी हो जाता है। मनुष्य के जीवन की श्रेष्ठता इस बात में है कि वह सामाजिक पुनर्निर्माण के अनुकूल आचारण करना सीखे तथा स्वयं को उन परिवर्तनों के अनुकूल ढाले। इस प्रकार मनुष्य पुनर्निर्माण प्रक्रिया में दो प्रकार से भाग लेता है—एक तो समाज में आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन लाने का प्रयास करता है तथा दूसरे वह उत्पन्न परिवर्तन के अनुरूप स्वयं को ढलने का प्रयत्न करता है। अर्थात् परिवर्तन मनुष्य स्वयं लाता है तथा मनुष्य का अपना तदनुरूप आचारण ही उस परिवर्तन को लागू करता है।

सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा एक साधन

शिक्षा द्वारा अनेक देशों एवं समाजों का पुनर्निर्माण किया गया है। इस हेतु निम्नलिखित तथ्य ज्ञातव्य हैं—

1. भारत में अंग्रेजी शिक्षा के कारण सामाजिक पुनर्निर्माण

अंग्रेजी शिक्षा के प्रवेश से भारत ने कई सदियों की कुम्भकर्णी निद्रा का परित्याग कर अपने समाज में असाधारण आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक परिवर्तन किये। सामाजिक पुनर्निर्माण का श्रेय राजा राममोहन राय, टैगोर, केशवचन्द्र सैन, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि महान् व्यक्तियों को प्राप्त हुआ। इन्होंने सती प्रथा, कन्या वध, बालविवाह आदि कुप्रथाओं का अंत कर हमारे समाज की कायापलट कर दी। राजनैतिक पुनर्निर्माण का श्रेय दादाभाई नौरोजी, गोखले, गांधीजी व नेहरूजी को जाता है। यह सच है कि देश के शैक्षिक विचारों में

महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के बिना आधुनिक भारत की सामान्य जागृति संभव नहीं होती।

2. भारत में मूल्यपरक शिक्षा के कारण सामाजिक पुनर्निर्माण का प्रयास

प्राचीन भारत के निवासियों में धर्म और नैतिकता में आस्था होने के कारण न्याय, सहयोग, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व, नि:स्वार्थता आदि मूल्यों पर सदैव बल दिया गया है। उन्होंने आध्यात्मिक मूल्यों की तुलना में भौतिक मूल्यों को निरन्तर स्थान दिया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्रों में स्वार्थ व शोषण की भावनाएं प्रबल हो गई थीं तथा सहयोग व सहिष्णुता का स्थान अलगाव, घृणा व द्वेष ने ले लिया था। सामाजिक परिवर्तन और विघटन की इस प्रक्रिया में सबसे शक्तिशाली तत्त्व विज्ञान की शिक्षा का विकास था।

आज अलगाववाद, असहिष्णुता आदि को दूर कर सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए मूल्यपरक शिक्षा पर बल दिया जा रहा है ताकि सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास संभव हो सके तथा सहयोग व भ्रातृत्व पर आधारित समाज का पुनर्निर्माण हो सके।

3. जर्मनी में शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन

सन् 1860 में जेना के युद्ध में नेपोलियन द्वारा धूल-धूसरित कर दिये जाने के कारण जर्मन लोगों की देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, बलिदान आदि भावनाओं पर घातक प्रभाव हुआ था। इन भावनाओं का पुनर्निर्माण करके अपने समाज को पूर्व रूप में परिवर्तित करने के लिए शिक्षा का सहारा लिया गया था।

4. सोवियत संघ में शिक्षा द्वारा समाजवाद का व्यापक प्रचार

सोवियत संघ में जार के सामन्तवादी विचारों के स्थान पर समाजवादी समाज के पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा का सहारा लिया गया था। समाजवाद को विश्वव्यापी बनाने के लिए भी सोवियत संघ ने शिक्षा का भरपूर सहारा लिया।

5. शांति शिक्षा द्वारा वर्तमान विश्व के कायापलट का प्रयास

वर्तमान में विश्व के असंतुलित विकास या कुविकास को खत्म करने, शस्त्रीकरण को रोकने तथा अहिंसक व शांतिवादी विश्व समाज की रचना के लिए शांति शिक्षा व निःशस्त्रीकरण की शिक्षा का सहारा लिया जा रहा है। इस प्रकार समाज के पुनर्निर्माण में शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में सामने आई है। भविष्य की राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप सामाजिक पुनर्निमाण के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा इस तरह की आयोजित की जाए कि वह बालकों में परिवर्तन व नवीन प्रवृत्तियों पर आलोचनात्मक ढंग से विचार कर सकने की योग्यता दे।

सामाजिक पुनर्निर्माण हेतु दो स्तरों पर प्रयत्न करने आवश्यक हैं—

1. भौतिक संसाधनों का विकास व उनका समान वितरण
2. मानवीय संसाधनों का विकास व उनका पूर्ण उपयोग।

शिक्षा इन दोनों क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। व्यक्ति को नये मूल्य देने, उसकी प्रवृत्ति, सोचने-विचारने के ढंग और नये परिवर्तन के प्रति आस्था उत्पन्न करने का कार्य शिक्षा ही करती है। रूस में क्रांति के बाद समाज के पिछड़े ग्रामीण और परम्परागत स्थिति को उन्नत, विकासशील और आधुनिक समाज में बदलने का कार्य विद्यालयों को ही सौंपा गया था। कोठारी आयोग ने उचित ही कहा था—"हमारा देश जिस प्रकार के समाजवादी ढंग का समाज निर्मित करना चाहता है, वह समाज व्यक्तिगत या समूहगत संकीर्ण निष्ठा व स्वार्थता के द्वारा नहीं अपितु राष्ट्रीय विकास के सभी घटकों के प्रति व्यापक निष्ठा व उसके प्रति उत्सर्ग से ही बन सकेगा और इस हेतु शिक्षा अहम साधन होगी।"

सामाजिक पुनर्निर्माण कैसे करें ?

सामाजिक पुनर्निर्माण दो प्रकारों से किया जा सकता है—

1. संगठित व नियोजित रूप से धीरे-धीरे परिवर्तन लाकर।

2. क्रांति अथवा आन्दोलन द्वारा एकाएक परिवर्तन लाकर।

इन दोनों विधियों में प्रथम विधि उपयोगी एवं संतोषजनक है। दूसरी विधि घृणा, अत्याचार, हिंसा और अशांति उत्पन्न कर सकती है। 1688-89 की इंग्लैण्ड की, 1783 की फ्रांस की, 1917 की रूसी क्रांतियां इसकी प्रमाण हैं।

शिक्षा का सहयोग

योजनाबद्ध सामाजिक पुनर्निर्माण के लिए शिक्षा तीन प्रकार से सहयोग कर सकती हैं—

1. व्यक्तियों में यह समझ विकसित की जाए कि वे अच्छी व उपयोगी परम्पराओं और व्यवस्थाओं का चयन कर सकें तथा अनुपयोगी एवं बुरी परम्पराओं तथा रूढ़ियों को छोड़ सकें।

2. व्यक्ति निर्भीक एवं स्वतंत्र होकर सामाजिक बुराइयों की आलोचना कर सके।

3. व्यक्ति योग्य बनकर सुनियोजित एवं सुनिश्चित योजना में सहयोग दे सके।

यद्यपि वर्तमान शिक्षा सामाजिक पुनर्निर्माण के स्वरूप को निश्चित करने में असफल रही है। प्रो. सचदेवा के शब्दों में—"शिक्षा, जिसे सामाजिक व्यवस्था को नवीन रूप प्रदान करने में नेतृत्व करना चाहिए था, उसकी चाटुकार सहचरी के रूप में कार्य करके संतोष का अनुभव कर रही है।" इसलिए वर्तमान शिक्षा में परिवर्तन की बात बहुत जोरों से की जा रही है। शिक्षा में आज मूल्यों का अकाल-सा पड गया है, इसी कारण विश्व कुविकास की समस्या से ग्रस्त है। वर्तमान शिक्षा में मूल्यों तथा अहिंसा एवं शांति के तत्त्वों के समावेश से विश्व द्वारा चाहे जा रहे संतुलित सामाजिक पुनर्निर्माण को संभव बनाया जा सकता है।

कैसी हो 21वीं शताब्दी की शिक्षा

विश्व या समाज की समस्या वास्तव में व्यक्ति की समस्या है। विश्व तभी शांति से रह सकता है, जब व्यक्ति शांति से रहने के लिए अपना मन बनाये। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब व्यक्ति के शरीर, मन और भाषा के बीच समन्वय हो। शिक्षा की आवश्यकता व्यक्ति को यही प्रशिक्षण देने के लिए है। प्रचलित शिक्षा पद्धतियों ने यद्यपि कई सार्वजनिक उद्देश्यों की पूर्ति की है पर इसका मुख्य लक्ष्य समाज का संतुलित विकास और शिक्षा के ढांचे का सुदृढीकरण होने की बजाय सर्वश्रेष्ठ शासक वर्ग का निर्माण रहा है।, इसी कारण अभी तक लोक कल्याण नहीं हो पाया है। यद्यपि मानव सभ्यता, विकास के कई सोपानों से गुजरी है पर यह केन्द्रीय दृष्टि अपरिवर्तनीय रही है। नौकरशाही, औद्योगीकरण, विज्ञान, प्रबन्ध, सेना, राष्ट्रवाद, समाजवाद, योजनाबद्ध विकास—सबने इस प्रक्रिया में भरपूर सहयोग किया है। व्यक्ति ने व्यक्ति का शोषण किया है, शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा कमजोर लोगों पर अत्याचार हुए, पुरुषों ने स्त्रियों का तथा सबल ने निर्बल का शोषण किया है, उन पर शासन किया है। इतिहास से चली आ रही इस शिक्षा की व्यवस्था ने केवल शासक समाज की सेवा की है और हिंसा को बढावा दिया है।

योजनाबद्ध हिंसा आज की देन नहीं, बल्कि सदियों से चली आ रही है, इस तरह के बहुत से साक्ष्य प्राचीन इतिहास में देखने को मिलते हैं। एक इटालियन यात्री ने भारत यात्रा का अपना अनुभव लिखते हुए कहा है—वह एक ब्राह्मण से मिला और सूर्यग्रहण के बारे में जानकारी चाही। ब्राह्मण ने वैज्ञानिक विस्तार से उसे प्रामाणिक जानकारी दी। संयोगवश उसी समय एक अस्पृश्य व्यक्ति ने भी

ब्राह्मण से वही जानकारी चाही। ब्राह्मण का उत्तर था—राक्षस राहू सूर्य देवता को निगल जाता है और सूर्यग्रहण हो जाता है। जब इटालियन यात्री ने यह सब देखकर पूछा—कौन सा उत्तर सही है? ब्राह्मण का जवाब था—जो उत्तर आपको दिया गया, वही सही है। ज्ञान सबके लिए नहीं है, सामान्य आदमी के लिए दूसरी शिक्षा है। प्राचीन भारत में स्त्री और अस्पृश्य को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था। अतः शिक्षा अभ्यास के लिए नहीं वरन् शासक वर्ग की सेवा के लिए रही है। ये शासक पूरे राष्ट्र के विकास को अकेले ही निगल लेते हैं। विकसित राष्ट्र इसी प्रकार की शिक्षा को महत्त्व देते रहे हैं। ग्रेट ब्रिटेन में शिक्षा केवल उच्च वर्ग के लिए ही है। केवल 16% लोग ही उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं, इनमें से भी 80% लोग शारीरिक श्रम न करने वाले परिवारों से आते हैं। यद्यपि ग्रेट ब्रिटेन में 98% साक्षरता है पर इनमें से 80% नाम मात्र के लिए ही शिक्षित हैं। शिक्षा का यह एकाधिकार पद और धन के एकाधिकार से भी खतरनाक है। इससे बुरा क्या होगा कि एक छोटा समुदाय अपने विशेष ज्ञान के कारण पूरे समूह पर शासन कर रहा है। प्राचीनकाल की तुलना में आज शूद्रों की संख्या अधिक हो गई है। वैशिष्ट्य के बिना सामाजिक ज्ञान रखने वाले लोग समाज में अविश्वसनीय हैं। अतः मात्र विशिष्ट लोगों के पास ही शिक्षा व सत्ता का अधिकार है। उनके पास ही ऐसे मंत्र हैं जो नियम-उपनियम, आचार संहिताओं आदि का निर्माण करते हैं।

ज्ञान की यह संकीर्णता व्यक्ति को प्राकृतिक विवेक से दूर ले जा रही है तथा उसकी आंतरिक प्रतिभा और विवेक शक्ति को नष्ट कर रही है। अतः आज आवश्यक है 21वीं शताब्दी के लिए शिक्षा पर पुनर्विचार व पुनर्निर्माण की। यदि शिक्षा को रोजगार के साथ जोड़ा जाता है तो इसके परिणाम भी भयावह ही हैं। रोजगार प्राप्त व बेराजगारों के बीच संघर्ष है। अनुत्पादक शिक्षित रोजगार प्राप्त व उत्पादक अशिक्षित स्वयं रोजगार प्राप्त व्यक्तियों के बीच संघर्ष

है। यह कहना मात्र धोखा है कि आज अनुत्पादक शिक्षित रोजगार व्यक्ति पूंजी पर नियंत्रण स्थापित कर रोजगार उत्पन्न कर रहे हैं। यदि ऐसी ही स्थिति रही तो परिणाम खतरनाक भी हो सकते हैं।

प्रश्न है—तब हम क्या करें ? कैसे हम नई शिक्षा नीति का निर्माण करें ? इस नई शिक्षा नीति के क्या लक्ष्य और उद्देश्य हों ? गांधीजी की भाषा में इस प्रश्न का समाधान है—हम किसी भी समाज का रख-रखाव करने की जगह शिक्षा के माध्यम से ऐसे नए समाज-तंत्र का निर्माण करें जो अहिंसक समाज का निर्माण और उसका नेतृत्व करे। ऐसी शिक्षा दलितों के उत्थान के लिए होगी, शक्ति को विकेन्द्रित करने के लिए होगी तथा समानता की संस्कृति के विकास के लिए होगी। सबके लिए समान अवसर का नारा आज अधिक सार्थक नहीं क्योंकि समाज के विभिन्न वर्ग, जातियां बहुत अधिक असमान स्तर तक पहुंच चुके हैं। अतः पिछड़े वर्ग को कुछ अतिरिक्त लाभ देने होंगे जिससे शिक्षा उन्हें समान स्तर पर ला सके। ऐसी शिक्षा स्वप्रकाशित करने वाली तथा मूल्य केन्द्रित होगी जिसका उद्देश्य डॉक्टर, इंजीनियर व प्रशासक देना नहीं अपितु इन लोगों में वैसे गुण व मूल्य भी हैं या नहीं, यह देखना होगा। इस प्रकार की शिक्षा द्वारा परिवर्तित अभिवृत्तियों का विकास होगा, बौद्धिक परिपक्वता आएगी जिससे अहिंसक संस्कृति का निर्माण होगा। फोयरस्टीर ने ठीक ही कहा था—शांति केवल संस्कृति के पुनर्निर्माण से ही स्थापित हो सकती है। इस संस्कृति में सामंजस्य व सेवा भावना पर बल दिया जाएगा। हिंसा व केन्द्रीयकरण की जगह सहभागिता व अहिंसक भावना का विकास होगा। कार्ल मेनहीन ने ठीक ही कहा है—"हिंसक दृष्टिकोण को उपयुक्त शिक्षा के द्वारा रोका जा सकता है।"

गांधीजी से एक बार पूछा गया—आपकी शिक्षा का क्या उद्देश्य है ? गांधीजी का उत्तर था—चरित्र निर्माण। मैं साहस, शक्ति तथा कार्य करते समय स्वयं को भूल जाने की योग्यता का निर्माण करना चाहूंगा, जो साक्षरता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। आज की शिक्षा

हमें सब कुछ सिखाती है पर हमारे आंतरिक अस्तित्व से परिचित नहीं करवाती। हम नहीं जानते कि हम अपनी इच्छाओं और स्वार्थों के कितने गुलाम हैं। हम दूसरों की सेवा करने की बजाए स्वयं की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति क्यों करते हैं? क्यों हमारे पास अच्छाई और बुराई के बीच भेद करने का विवेक नहीं है? इसलिए सूचनाएं एकत्र करना शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य नहीं अपितु मानवीय बदलाव ही इसका उद्देश्य हो सकता है। आइन्सटीन ने कहा था—हमारे कार्यों में नैतिकता आये यह मानवता का महान् उद्देश्य है। संक्षेप में हम 21वीं शताब्दी के लिए शिक्षा के स्वरूप में निम्न तत्त्वों का समावेश मान सकते हैं।

1 साक्षरता न तो शिक्षा का प्रारंभ है न ही अंत।

2. बौद्धिक ज्ञान शिक्षा का एक पहलू है, इसका दूसरा पहलू है—इच्छाओं व भावनाओं को प्रशिक्षित करना तथा चरित्र निर्माण।

3 शिक्षा का व्यक्तिवादी मूल्य ठीक नहीं, व्यक्ति का विकास समाज के विकास के साथ जोड़ना चाहिए।

4 विज्ञान के योगदान को नकार नहीं सकते पर हमें अपनी आंतरिक शक्तियों के लिए अपनी आंखें बंद नहीं कर लेनी चाहिए।

शैक्षिक व्यय उपभोग है या विनियोग

शिक्षा का अर्थशास्त्र

पिछले कुछ वर्षों में अर्थशास्त्र की एक नई शाखा का उद्‌भव हुआ, जिसे शिक्षा का अर्थशास्त्र कहा जाता है। इसके अन्तर्गत शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय और उससे मिलने वाले लाभ का विवेचन किया जाता है। शिक्षा के अर्थशास्त्र के विकास में जॉन वेजी, शुल्ज आदि अर्थशास्त्रियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण विश्व में शिक्षा के प्रसार का व्यापक दौर प्रारम्भ हुआ। विकास की इस तीव्र गति का कारण ज्ञान-विज्ञान का विस्फोट तथा उद्योग में नवीन तकनीकी क्रांति आना था। इसके परिणाम स्वरूप शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय में आशातीत वृद्धि हुई है। इस बढ़ते हुए व्यय का क्या औचित्य है ? इसका उत्तर शिक्षा का अर्थशास्त्र देने का प्रयत्न करता है। जब शैक्षिक क्षेत्र में राष्ट्रीय सीमित-साधनों के इतने बड़े भाग का उपभोग होता है, तब यह आवश्यक है कि शैक्षिक व्यय की भी अन्य क्षेत्रों में विनियोजित धन-राशि के समान जांच की जाए। शैक्षिक निर्णय केवल सामाजिक एवं राजनैतिक आधार पर अथवा अन्य विकसित देशों की शैक्षिक उपलब्धि की दृष्टि से लिए जाने उचित नहीं है, उनके आर्थिक पक्ष को भी समुचित महत्त्व दिया जाना आवश्यक है, जिससे राष्ट्र के सीमित साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग हो सके।

शैक्षिक व्यय : उपभोग या विनियोग

शैक्षिक व्यय को उपभोग रूप माना जाए अथवा विनियोग रूप, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। वस्तुओं और सेवाओं को दो वर्गों में

विभक्त किया जा सकता है—एक वह, जिसका लाभ उपभोक्ता तत्काल उठा सके तथा दूसरा वह, जिसका उपयोग दीर्घकालीन उत्पादन में किया जा सके। प्रथम वर्ग उपभोग कहलाता है दूसरा वर्ग विनियोग। शिक्षा एक दृष्टि से उपभोग की वस्तु है, क्योंकि उससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है, दूसरी दृष्टि से शिक्षा एक विनियोग रूप प्रवृत्ति है क्योंकि इसके द्वारा ऐसे शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों का उत्पादन होता है जो व्यक्तिगत धन कमाने की क्षमता प्राप्त करने के साथ-साथ देश की उत्पादन प्रक्रिया में सहायक होते हैं। उपभोग की दृष्टि से शिक्षा की आवश्यकता सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उत्पन्न होती है और विनियोग के रूप में उसका प्रावधान मुख्यतः उसकी उत्पादन क्षमता द्वारा निश्चित होता है।

शैक्षिक नियोजन द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् भी कुछ समय तक स्वतंत्र रूप से होता रहा, उसका राष्ट्रीय विकास योजना से विशेष संबंध नहीं था। शिक्षा और आर्थिक क्षेत्र के मध्य सर्वप्रथम संबंध राष्ट्रीय विकास योजना के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों हेतु शिक्षित मानव-शक्ति की मांग के कारण हुआ। शिक्षा प्रणाली में अब यह भी अपेक्षा की जाने लगी है कि वह वांछित संख्या में निर्धारित योग्यता के व्यक्ति निश्चित समयोपरान्त उपलब्ध करे। शैक्षिक विकास को राष्ट्रीय विकास का एक प्रमुख साधन माना जाने लगा और नियोजकगण शैक्षिक नियोजन और राष्ट्रीय विकास नियोजन के एकीकरण पर बल देने लगे।

अर्थशास्त्री यह मानने लगे कि आर्थिक विकास की उपलब्धि प्रमुखतः भौतिक साधनों से इतनी नहीं होती जितनी तकनीकों द्वारा मानवीय साधनों को उन्नत करने से। मानवीय पूंजी के विकास के आधार है—शिक्षा, व्यावसासिक प्रशिक्षण, स्वास्थ्य संबंधी सेवाएं, पौष्टिक आहार आदि। इन पर किये गये व्यय से मानवीय पूंजी उन्नत होती है, जिससे देश अपनी आय के स्तर को उन्नत करने में समर्थ होता है और आर्थिक विकास की गति में तीव्रता आती है।

जॉन वेजी, शुल्ज आदि अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विकास व शैक्षिक व्यय के बीच घनिष्ठ सहसंबंध पाया है। जैसे—ब्रिटेन में सन् 1900 में शैक्षिक बजट राष्ट्रीय उत्पादन का 2 प्रतिशत था जो 1958 में बढ़कर 4 प्रतिशत हो गया, यही अनुपात आर्थिक विकास की गति का भी देखा जा सकता है। वेजी का निष्कर्ष है—जैसे-जैसे धन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे शिक्षा पर किया जाने वाला व्यय उपभोग माना जा सकता है। दूसरी ओर शिक्षा पर जिस मात्रा में व्यय किया जाता है, उससे कई गुना अधिक प्रतिफल शीघ्र ही मिलने लगता है, इस दृष्टि से यह विनियोग भी है।

अर्थशास्त्र में पूंजी को उत्पादन का साधन माना जाता है और यह पूंजी स्वयं भी एक उत्पादित वस्तु अथवा सेवा होती है। यह तीन प्रकार की मानी गई है—भौतिक पूंजी, जैसे फैक्टरी में मशीन या खेत में ट्रैक्टर आदि, मानवीय पूंजी जैसे शिक्षा प्राप्त मनुष्य तथा वित्तीय पूंजी। शुल्ज ने मानवीय पूंजी शब्द का प्रयोग उच्च शिक्षा प्राप्त मानवीय पूंजी से किया है। राष्ट्र की जनसंख्या में जो संभावित शक्ति छिपी है, उसे विकसित करने हेतु जो व्यय किया जाता है, उसको अब केवल उपभोग या समाज कल्याण के प्रकार का व्यय नहीं माना जाता है। रूस, अमेरिका, जर्मनी तथा जापान में मानवीय पूंजी की कार्य कुशलता उन्नत करने से वहां के उत्पादन में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। इस दृष्टि से शिक्षा दीर्घकालीन विनियोग भी है।

मानवीय पूंजी में विनियोग

देश का आर्थिक विकास केवल प्राकृतिक साधन और भौतिक पूंजी पर आधारित नहीं बल्कि उसका वास्तविक कारण मानव शक्ति है। द्वितीय विश्वयुद्ध में विध्वंसित देश, जैसे—जर्मनी एवं जापान ने थोड़े ही समय में अपनी अर्थव्यवस्था को पुनः स्थापित कर लिया क्योंकि वहां की मानवीय शक्ति काफी उन्नत थी। इसलिए शिक्षा की सफलता अन्ततोगत्वा उसके द्वारा उत्पादित पुरुषों व स्त्रियों के सांस्कृतिक स्तर, उनकी व्यवसायिक निपुणता तथा उनके चरित्र पर निर्भर करती है।

शिक्षा के परिणामस्वरूप मनुष्य ज्ञान एवं कुशलताएं प्राप्त करता है। यह एक प्रकार की पूंजी है जो शिक्षा पर किये गये विनियोग का परिणाम है। अर्जित ज्ञान तथा कुशलताओं का आर्थिक मूल्य होता है क्योंकि ये तकनीकी दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों की उत्पादक क्षम का प्रमुख कारण हैं। शिक्षा प्रणाली को राष्ट्रीय विकास से संबंधित करने का अर्थ है—शिक्षा के परिणामस्वरूप व्यक्ति की उत्पादन क्षमता में वृद्धि।

प्रश्न उठता है कि हम मानवीय विनियोग की मात्रा का किस प्रकार अनुमान लगाएं तथा शैक्षिक व्यय के उपभोग और विनियोग के मध्य किस प्रकार भेद करें। यह व्यय तीन प्रकार से हो सकता है—1. वह व्यय जो केवल उपभोक्ता की संतुष्टि से संबंधित हो और किसी प्रकार की व्यक्ति की क्षमताओं में वृद्धि न करे, शुद्ध उपभोग प्रकार का व्यय है। 2. जो व्यय मानव क्षमताओं को उन्नत करता है और जो उपभोक्ता की संतुष्टि से संबंधित नहीं है, शुद्ध विनियोग है। 3 जिस व्यय का प्रभाव दोनों प्रकार का होता है वह अंशतः उपभोग और अंशतः विनियोग कहलाता है।

मानवाधिकार
और
विश्वशांति

मानवाधिकार : एक परिचय

समाज विकास के साथ एक विचार जिसे हम "मानवाधिकार" के नाम से जानते हैं पिछले लगभग 800 वर्षों से विकसित होता रहा है। सर्वप्रथम सन् 1215 में इंग्लैंड के राजा जॉन ने मानव अधिकारों पर पहला घोषणा-पत्र सर्वमान्य कानून बनाने की दृष्टि से जारी किया था। तत्पश्चात् पुनः ऐसे ही प्रयास 15वीं सदी में फ्रांस और इंग्लैंड में हुए। मानवाधिकार के आधुनिक सिद्धान्त के जन्मदाता एच जी. वैल्स थे जिन्होंने विश्व नागरिकों के अधिकारों व कर्त्तव्यों पर एक घोषणा-पत्र जारी करते हुए कहा था कि "प्रत्येक मनुष्य को जीने का अधिकार है, अल्पसंख्यकों के संरक्षण का अधिकार है, ज्ञान प्राप्ति का अधिकार है, विचारों व उपासना की स्वतंत्रता का अधिकार है, कार्य करने का अधिकार है, व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार है, व्यक्तिगत समृद्धि का अधिकार है, हिंसा से मुक्ति का अधिकार है, कानून बनाने का अधिकार है तथा वे समाज के प्रति उत्तरदायी हैं।" वैल्स की इन्हीं धाराओं पर एक अन्तर्राष्ट्रीय कमेटी द्वारा विचार-विमर्श करने के पश्चात् इसका अन्तिम रूप तत्कालीन नवनिर्मित संस्थान संयुक्त राष्ट्र द्वारा स्वीकार कर लिया गया तथा 10 दिसम्बर 1948 को पूरे विश्व में यह लागू कर दिया गया। उसी दिन से 10 दिसम्बर मानवाधिकार दिवस के रूप में मनाया जाने लगा।

मानवाधिकारों को दो कालों में विभक्त किया गया—युद्धकाल के मानवाधिकार एवं शांतिकाल के मानवाधिकार।

(1) युद्धकाल के मानवाधिकार

युद्धों के कानून बनाने के लिए दो विश्व प्रसिद्ध सम्मेलन हुए हैं—हेग सम्मेलन और जेनेवा सम्मेलन। हेग सम्मेलन में सर्वप्रथम

यह प्रस्ताव पारित हुआ कि युद्धकाल में युद्धरत राष्ट्रों का शत्रु को नुकसान पहुंचाने का अधिकार असीमित नहीं है। जबकि जेनेवा कानून लड़ने वाले सैनिक तथा असैनिक (नागरिक) दोनों के प्रति मानवीय व्यवहार सुनिश्चित करने के उद्देश्य से प्रेरित है। हेग कानून में हथियारों पर प्रतिबंध लगाने की बात भी सम्मिलित है पर इस संदर्भ में अब तक किये गये प्रयास असफल ही रहे हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध में इस प्रथागत कानून को भी काफी धक्का लगा था जिसके अनुसार सैनिक तथा असैनिक व्यक्तियों के बीच भेद किया गया था।

इस विश्वयुद्ध ने नागरिक बस्तियों पर आक्रमण कर सर्वांगीण युद्ध के सिद्धान्त को जन्म दिया था। रेडक्रास इस सिद्धान्त के विरुद्ध लड़ता रहा। इन्स्टीट्यूट दे द्रोइत इंटरनेशनल ने कहा कि समग्र युद्ध के सिद्धान्त को स्वीकार भी कर लें तो भी काफी असैनिक लोग रह जाते हैं जैसे अशक्त, बूढ़े, गर्भवती स्त्रियां, बच्चे, बीमार-घायल इन पर तो आक्रमण नहीं किया जाना चाहिये। इस प्रकार इस संस्थान ने मानव सभ्यता के प्रभात में मानवता की सर्वप्रथम कानून-संहिता के निर्माता मनु के इन शब्दों का समर्थन किया कि सशस्त्र संघर्ष में उसे नहीं मारा जाना चाहिये जो सो रहा हो, नग्न हो और जो शस्त्रहीन हो। इन प्रयासों का सुफल तब सामने आया जब 19 दिसम्बर 1968 को असैनिक नागरिकों के विरुद्ध हमले पर रोक लगाई गई। सभी राष्ट्र इन नियमों का पालन करें इस हेतु संयुक्त राष्ट्र ने रेड क्रॉस को उत्तरदायित्व दिया।

(2) शांतिकाल के मानवाधिकार

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने शांतिकाल में मानवतावाद के महत्त्व पर बल देते हुए कहा है—"वह कानून जो व्यक्ति की गरिमा को सुनिश्चित करता है, उसकी रक्षा के लिए सदैव तत्पर है तथा उसके कल्याण व प्रगति को उच्चतम सीमा तक ले जाने को संभव बनाता है उस कानून को शांतिकाल में भी स्वीकृत किया जाना ही चाहिए।" वस्तुतः देखा जाए तो युद्ध से अधिक शांतिकाल में मानवता की

विचारधारा सर्वोपरि है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद (3) में कहा गया है—'विश्व की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या मानवतावादी समस्या के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त किया जाए तथा जाति, भाषा, लिंग या धर्म का भेद किए बिना समस्त लोगों के लिए मानवाधिकारों एवं आधारभूत स्वतंत्रता के सम्मान को प्रोत्साहन दिया जाए।

इसी आधार पर मानवाधिकार आयोग ने नरसंहार पर रोक, जातिगत भेदभाव का निवारण, शिक्षा में भेदभाव का निवारण, महिलाओं की स्थिति को सम्मानजनक बनाने, नागरिकताहीन व्यक्तियों व शरणार्थियों की स्थिति सुनिश्चित करने, दासता एवं व्यक्तियों के क्रय-विक्रय को समाप्त करने तथा रोजगार देने आदि के लिए विश्व समुदाय से अपील की।

1977 में महासभा ने कहा—"आर्थिक-सामाजिक दृष्टि से भी सभी मनुष्यों को समान अधिकार है इसलिए विश्व के संसाधनों का उपयोग भी विश्व समुदाय के लिए हो, न कि मात्र कुछ राष्ट्रों के लिए" क्योंकि व्यक्ति को अपने अस्तित्व का अधिकार है।

अतएव इस दृष्टि से युद्धकालीन और शांतिकालीन मानवाधिकार अविभाज्य एवं अंतर सम्बन्धित हैं और ठीक इसी तरह मानवाधिकार, नि·शस्त्रीकरण और शांति भी। मानवता को यदि जीवित रखना है तो हमें शांतिकाल के मानवाधिकारों पर अधिक बल देना होगा, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हम युद्धकाल के मानवाधिकरों का निषेध कर रहे हैं।

मानवाधिकार एवं विश्वशांति

व्यक्ति को कुछ निश्चित अहस्तान्तरणीय अधिकारों का सिद्धान्त बहुत प्राचीन है। जबकि मानवाधिकारों का उद्‌गम अन्तर्राष्ट्रीय कानून है। मानव अधिकार व विश्वशांति दो ऐसे सिद्धान्त हैं जो एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्धित है। बीसवीं शताब्दी एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका महाद्वीपों की मुक्ति की साक्षी है जिसमें दुनिया की आधी जनसंख्या स्वतंत्र हुई तथा यह स्वतंत्रता मानव जाति के स्वर्णिम भविष्य का प्रतीक कही गई। इसी शताब्दी में महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा का मार्ग दिखाया, पटेल ने हमें अन्याय और दमन से लडने का निर्देश दिया, नेहरू ने गुटनिरपेक्षता और विश्वशांति की नींव रखी। यह उपनिवेशवाद के विरूद्ध एक लहर थी जो 1947 से भारतीय तट से उठी, जिसने सम्पूर्ण विश्व की राजनैतिक, भौगोलिक स्थितियों को बदल दिया, अन्तर्राष्ट्रीय कानून ही नहीं वरन् मानव जाति के मूलभूत कानूनों की सुदीर्घ परम्परा के सिद्धान्तों और नियमों को परिवर्तित कर दिया तथा मानवाधिकारों की एकात्मकता और मानव जाति की एकता को एक नये युग में प्रवेश के लिए मानवीय चिन्तन को क्रांतिकारी बना दिया। भारत की स्वतंत्रता इस शदी की सर्वाधिक यादगार घटना है। यह ऐसा सामूहिक प्रयास था जिसमें विजेता और विजित दोनों ने एक विशिष्ट पार्लियामेन्ट एक्ट के अन्तर्गत सत्ता का शांतिपूर्ण हस्तान्तरण करने में सहयोग किया। इससे पूर्व बर्मा तथा इसके पश्चात् सीलोन को स्वतंत्रता मिली। नेल्सन मण्डेला के नेतृत्व में दक्षिणी अफ्रीका की स्वतत्रता इस दिशा में एक और महत्त्वपूर्ण अनुभव था। ऐसे स्वायत्त राज्यों की घोषणाओं के साथ ब्रिटेन ने दूसरे शासकों के समक्ष मानवीय आधार प्रस्तुत किया। यद्यपि

इस शताब्दी के अंत तक भी चीन के कानों में यह आवाज नहीं पहूंची है कि वह तिब्बत को स्वतंत्र कर दे तथा तिब्बतियों के मानवाधिकारों की बहाली कर विश्वशांति के नये युग का प्रारम्भ कर दे।

मानव जाति के अहस्तान्तरणीय अधिकारों का विचार कवियों, दार्शनिकों, राजनीतिज्ञों द्वारा प्रायः किया जाता रहा है अतः मानवाधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण का विकास भी प्राचीन काल से माना जा सकता है। अर्थात् मानव अधिकार उतने ही प्राचीन हैं जितनी मानव सभ्यता। स्वस्थ समाज के अस्तित्व की पहचान मानव अधिकारों की पहचान ही है। हमारे आगम मानव जाति के भाईचारे और पूरे विश्व को परिवार के रूप में देखते आये हैं। परिवार की सदस्यता की बाध्यता के बावजूद मानवता एक परिवार है। भारतीय ऋषि-मुनियों ने सदैव विश्वबन्धुत्व, प्रेम एवं वसुधैव कुटुम्बकम् के गीत गाये है। गुरुनानक ने कहा था—कोई मेरा शत्रु नहीं है, कोई बाहरी नहीं है, सभी मेरे है, मेरे बन्धु हैं। महावीर भाईचारे तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु वे प्राणी समानता तक आगे बढ़े। फ्रेंच डिक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट 1789, अमेरिकन बिल ऑफ राइट्स 1791, अबोलिशन ऑफ स्लेवरी इन ब्रिटिश एम्पायर, 1833 आदि विधान भी मानव जाति के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्तों पर आधारित है।

ये और इन्हीं के समान कुछ अन्य विधान निश्चित ही मील के पत्थर थे जिससे एक व्यक्ति राजाओं की स्वेच्छाचारिता तथा तानाशाहों, साम्राज्यवादियों एवं उपनिवेशकों के विरूद्ध अपना संरक्षण कर सका। व्यक्ति के अधिकारों द्वारा ही स्वतंत्र समाज में स्वतंत्र जीवन-यापन ने पहचान ली। मानव सभ्यता के इतिहास में 1945 में हुए जापान में परमाणु आक्रमण ने एक ऐसा आधार तैयार किया जिससे नये विश्व की दृष्टि समाहित किये संयुक्त राष्ट्र अस्तित्व में आया। जहां मानव कल्याण और मानव अधिकारों द्वारा जाति, वर्ण, प्रदेश और धर्म के भेदभाव के बिना सामूहिक कल्याण के साथ व्यक्तिगत कल्याण

की गारंटी दी गई। मानवाधिकारों के लिए समकालीन प्रयास 50 वर्ष पूर्व 10 दिसम्बर 1948 को मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा से प्रारम्भ हुए। नानी पालकीवाला के अनुसार—"यह विश्व अभी भी पाशविक हो सकता है लेकिन हमारे अतीत के अनुभव यह दर्शाते हैं कि विश्व परिष्कार कर रहा है। यद्यपि इसकी गति अत्यन्त धीमी है।" महात्मा गांधी ने कहा था—यह सदैव एक आश्चर्य बना रहेगा कि क्यों और कैसे एक व्यक्ति अपने ही बन्धु को अपमानित कर सम्मान का अनुभव करता है।

संयुक्त राष्ट्र का मूलभूत दायित्व मानवाधिकारों की सुरक्षा है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर की प्रस्तावना में सदस्य राष्ट्रों ने मूलभूत मानवाधिकारों तथा मानव के सम्मान और उसकी योग्यता में विश्वास व्यक्त किया है। धारा एक में संयुक्त राष्ट्र सदस्यों ने मानवाधिकारों के प्रति सम्मान तथा जाति, लिंग, भाषा और धर्म के भेदभाव के बिना सभी के लिए मूलभूत स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा की है।

निःसन्देह जीने का अधिकार प्रथम मानवाधिकार है तथा जीवन का अर्थ अस्तित्व से कहीं अधिक है। किसी व्यक्ति को जीवन जीने (भरण-पोषण) के अधिकार से वंचित करना उसे जीवन से वंचित कर देना है। महात्मा गांधी ने जोर देकर कहा था—प्रत्येक मनुष्य को जीने का अधिकार है और इसलिए उसे अपने भरण-पोषण का अधिकार भी है। जीने का अधिकार एक मूलभूत मानवाधिकार होने के बावजूद उस समय विडम्बना बन जाता है जब कानून निष्प्रभावी बनकर अराजकता की स्थिति पैदा कर देते हैं। अतएव मानवाधिकारों का प्रावधान कर देना ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें प्रभावी ढंग से लागू भी किया जाना चाहिए।

मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के साथ ही इसे बहुत से नये राष्ट्रों के संविधानों में समाहित कर लिया गया और इसने अन्तर्राष्ट्रीय आचार संहिता पर एक सकारात्मक प्रभाव डाला। इस घोषणा पत्र की धारा 25 में यह उल्लिखित है कि प्रत्येक व्यक्ति को

ऐसे जीवन स्तर का अधिकार है जो उसके और उसके परिवार के सदस्यों के लिए पर्याप्त हो। इसमें भोजन, वस्त्र, आवास और चिकित्सा सुविधायें सम्मिलित हैं। मानवाधिकारों के मामलों में संयुक्त राष्ट्र की प्रभावशीलता इसके सदस्य राष्ट्रों की अभिवृत्तियों से घनिष्ठ रूप से जुड़ी है। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का यह दायित्व है कि वह अपने अधिकार क्षेत्र में मानवाधिकारों के प्रति सम्मान को सुनिश्चित करे। मानवाधिकारों के अन्तर्राष्ट्रीय बिल के प्रावधान सरकारों के लिए ही है।

मानवाधिकार एक शताब्दी पूर्व अब्राहिम लिंकन की उस घोषणा के अनुरूप अभी भी विकसित नहीं हो पाये है जिनमें उन्होंने कहा था—अधिकारों की घोषणा कर परिस्थितियों के अनुरूप तेजी से उन्हें प्रभावी बनायें। जो सभी के द्वारा सम्मानित हों, जिसे सब समान दृष्टि से देखें, जिसके लिए सभी समान श्रम करें तथा जिसका प्रभाव समान रूप से व्यापक हो। एक समान खुशियां फैले तथा सभी वर्गों एवं क्षेत्रों में सर्वत्र जीवन का मूल्य हो।

संयुक्त राष्ट्र का उद्‌भव अन्तर्राष्ट्रीय संकटों के शांतिपूर्ण निपटारे में अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को पूरा करने के लिए हुआ था। संयुक्त राष्ट्र को हमें एक न्यायपूर्ण, सुरक्षित विश्व व्यवस्था को शांतिपूर्ण साधनों से प्राप्त करने का अपूर्ण किन्तु अपरिहार्य साधन समझना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय डिक्लेरेशन एवं कन्वेन्शन में मानवाधिकार के क्षेत्र में जो विकास हुआ है, तभी वास्तविक होगा जब वह स्थानीय स्तर पर निम्न से निम्न व्यक्ति के उत्थान से सम्बन्धित कार्यों में प्रतिबिम्बित होगा। मानवाधिकार घोषणा पत्र को राष्ट्रों द्वारा वैश्विक स्वीकृति की भावपूर्ण अभिव्यक्ति करते हुए संयुक्त राष्ट्र पूर्व महासचिव ऊथां ने तेहरान में आयोजित मानवाधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में कहा था—चालीस से अधिक राष्ट्रों के संविधान जो हाल ही के वर्षो में बनाये गये हैं स्पष्ट रूप से वैश्विक घोषणा-पत्र से प्रभावित है, लेकिन वे इस क्षेत्र में विकास की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है।

प्रत्येक राष्ट्र मानवाधिकारों के हनन की रोकथाम के लिए अपने कानून बनाता है पर अभी भी यह विचारणीय है कि क्या उन कानूनों की शक्ति उतनी है जितनी की मानवाधिकारों के सम्मान के लिए आवश्यक है। अभी भी ऐसी बहुत से क्षेत्र एवं परिस्थितियां है जहां बड़े पैमाने पर मानवाधिकारों का हनन किया जा रहा है। दलाई लामा ने तिब्बत के सम्बन्ध में ऐसी परिस्थितियों का आकलन करते हुए कहा था कि सम्पूर्ण तिब्बती क्षेत्र को शांति और अहिंसा का क्षेत्र घोषित कर देना चाहिए। न केवल भारत के लिए अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण कदम हो सकता है कि हिन्द महासागर को शांति क्षेत्र घोषित कर दिया जाए। युद्ध के स्थान पर शांति की मांग सर्वोच्च मानवाधिकार है। हिन्द महासागर में सैनिक अड्डों की सैनिक गतिविधियों के स्थान पर विश्वशांति की चाह रखने वालों के लिए हिन्द महासागर को शांति क्षेत्र घोषित किया जाना मील का पत्थर साबित हो सकता है। शांति केवल किसी भूमि के टुकड़े तक ही सीमित न होकर इसका विस्तार सम्पूर्ण जल, थल व नभ पर्यन्त होना चाहिए। किसी भी क्षेत्र के शांति क्षेत्र घोषित होने से यह तथ्य भी स्पष्ट होगा कि शांति काल्पनिक नहीं है बल्कि वास्तविक है। महावीर से गांधी तक शांति और अहिंसा की संस्कृति शताब्दियों तक हिन्दुस्तान की माटी को महकाती रही है। शांति हमारे खून में है, निश्चित ही उसकी गर्मी विश्व पर्यन्त फैलेगी।

विश्व मानव व्यवस्था एक कानूनी वास्तविकता है तथा शांति की संस्कृति प्रतिष्ठापित करने का कार्य संयुक्त राष्ट्र के चार्टर ने किया है। चार्टर के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रत्येक अधिकार और कर्त्तव्य मानवाधिकारों के वैश्विक घोषणाओं में अप्रत्यक्ष रूप से अन्तर्निहित है। शांति को क्रियान्वित करने और मानवाधिकारों की वास्तविकता के लिए जो प्रयत्न आवश्यक हैं वे भविष्य के गर्भ में हैं।

संघर्ष निराकरण एवं मानवाधिकार

मानवाधिकारों का सीधा सम्बन्ध संघर्ष से नहीं है, लेकिन संघर्षों के दौरान मानव अधिकारों का अत्यधिक महत्त्व है। मानव अधिकारों से यहां हमारा अभिप्राय उन अधिकारों से है जो संयुक्त राष्ट्र और क्षेत्रीय संगठनों द्वारा स्वीकृत किये गये हैं। इनमें इण्टरनेशनल बिल ऑफ राइट्स, यूनिवर्सल डिक्लेरेशन ऑफ ह्यूमन राइट्स (संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1966 में अंगीकृत), कन्वेंशन फॉर दी एलीमिनेशन ऑफ रेसियल डिस्क्रिमिनेशन (1965), द कन्वेंशन अगेन्स्ट स्लेवरी और कन्वेंशन अगेन्स्ट जेनोसाइड सम्मिलित हैं।

मानवाधिकार व्यवस्था की विषयवस्तु

अधिकारों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है.1. स्वतंत्रताए (Freedom) और 2 मांग (Demand)। स्वतंत्रता का सम्बन्ध मानवीय-अखण्डता से है। स्वतंत्रता में स्वेच्छाचारी प्रतिबंधों या वैयक्तिक स्वतंत्रता से वंचित करने वोल प्रयत्नों से स्वतंत्रता, यातना, क्रूरता के अन्य तरीकों व अमानवीय व्यवहार से मुक्ति तथा इससे भी अधिक एक व्यक्ति के जीवन को छीन लेने से स्वतंत्रता आदि सम्मिलित होते हैं। इनके साथ ही कार्य की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति व संघ बनाने की स्वतंत्रता भी इसमें निहित है। कार्य की स्वतंत्रता इस रूप से दी गई है जिससे दूसरों के अधिकारों का भी सम्मान हो सके।

मानव अधिकारों में जो मांगें सम्मिलित की गई हैं, वे कुछ भिन्न प्रकृति की हैं। इनमें राज्य सत्ता द्वारा व्यक्तियों या समूहों पर की जाने वाली हिंसा से सुरक्षा की मांग तथा व्यक्तियों या समूहों द्वारा राज्य सत्ता से कुछ निश्चित आवश्यकताओं की पूर्ति की गारण्टी की मांग सम्मिलित है। यद्यपि स्वतंत्रता का अधिकार राज्य शक्ति

के क्रियाकलापों को सीमित करता है जबकि मांगें राज्य की सक्रियता चाहती हैं, क्योंकि मांगों की पूर्ति हेतु राज्य व्यवस्था को आवश्यक और पर्याप्त रूप से विकसित किया जाना अपेक्षित है।

राज्य के कर्त्तव्यों का स्वरूप

राज्य के कर्त्तव्यों को मूलत. तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है:-

सम्मान का कर्त्तव्य (Duty to Respect)

सुरक्षा का कर्त्तव्य (Duty to Protect)

आवश्यकताओं की पूर्ति का कर्त्तव्य (Duty to fulfill)

सम्मान के कर्त्तव्य का निर्वहन करने के लिए राज्य तथा उसके अंगों व प्रतिनिधियों के लिए यह आवश्यक है कि वे ऐसे कार्यों से बचें जो व्यक्ति की स्वतंत्रता व अखण्डता को बाधित करते हों। सुरक्षा के कर्त्तव्य के निर्वहन के लिए राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह अखण्डता, कार्य की स्वतंत्रता या व्यक्ति के अन्य अधिकारों के हनन की रोकथाम के लिए आवश्यक व कारगर उपाय सुनिश्चित करे। आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए उन आवश्यकताओं की पूर्ति की संभावनाओं को सुनिश्चित करे जो मानवाधिकार व्यवस्था में निर्दिष्ट की गई हैं। जैसे कार्य का अधिकार, पर्याप्त जीवनस्तर का अधिकार, स्वास्थ्य, सेवा व शिक्षा का अधिकार आदि।

मानवाधिकार कानून के अन्तर्गत राज्य की दोहरी भूमिका है। राज्य को अपने कार्यों के लिए कुछ सीमाएं स्वीकार करनी चाहिए साथ ही मानव अधिकारों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सक्रिय कदम उठाये जाने की भी बाध्यता है। राज्य की इस दोहरी भूमिका को लेकर यद्यपि कुछ तनाव है, इस पर विमर्श आवश्यक है।

मानव अधिकार व्यवस्था में व्यक्तियों या समूहों के अधिकारों के साथ कुछ कर्त्तव्य भी हैं। इण्टरनेशनल डिक्लेरेशन की धारा 29 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का अपने समुदाय के प्रति दायित्व है, जिसमें

उसके व्यक्तित्व का स्वतंत्र व सम्पूर्ण विकास संभव है। यद्यपि धारा 29 एक व्यक्ति के कर्त्तव्यों की दृष्टि से अनिश्चित सी है। भेदभाव की रोकथाम एवं अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए संयुक्त राष्ट्र के एक उप आयोग ने अपनी विशेष रिपोर्ट में व्यापक अध्ययन के पश्चात् निम्नांकित कर्त्तव्यों को सूचीबद्ध किया है—शांति और सुरक्षा के सम्मान का कर्त्तव्य, युद्ध के प्रचार से बचने का कर्त्तव्य, राष्ट्रीय, जातीय और धार्मिक घृणा फैलाने से बचने का कर्त्तव्य, अन्तर्राष्ट्रीय मानवतावादी कानून को स्वीकार करने का कर्त्तव्य तथा मानवाधिकार और मूलभूत स्वतंत्रताओं को उन्नत करने एवं तदनुरूप आचरण करने का कर्त्तव्य।

घरेलू कानून के अन्तर्गत एक राज्य व्यक्तियों पर कर्त्तव्यों को लागू करने के अधिकार रखता है। लेकिन प्रभावी किये जाने वाले कर्त्तव्यों की एक सीमा है जैसा कि धारा 29 के पैरा 2 में कहा गया है—अपने अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं का उपयोग करते समय प्रत्येक व्यक्ति के लिए कुछ ऐसी सीमाएं होंगी जो दूसरों के अधिकारों व स्वतंत्रताओं की सुरक्षा एवं प्रजातांत्रिक समाज में नैतिकता, व्यवस्था और सामान्य कल्याण की आवश्यकता पूर्ति हेतु कानून द्वारा निर्धारित की जाएगी।

संघर्षों के दौरान मानवाधिकारों का प्रयोग

एक राज्य खुले संघार्षों के दौरान मानवाधिकारों के सम्मान, संरक्षण एवं आवश्कताओं की पूर्ति के लिए बाध्य है। उपद्रव, अपगमन के लिए युद्ध (a war of secession) या क्रांति के समय भी राज्य मानवाधिकारों की बहाली के लिए बाध्य है।

सरकारें प्रायः यह तर्क प्रस्तुत करती हैं कि प्रतिपक्षी आतंकवादी गतिविधियों में लिप्त हैं, इसलिए सरकार द्वारा किये जाने वाले वे कार्य भी उचित हैं जो अन्य स्थितियों में गैर कानूनी होते। मानवाधिकार इतने व्यापक अपवाद नहीं मानता। यद्यपि एक परिवर्तन किया जा सकता है कि आपातकाल के समय जब राष्ट्र के अस्तित्व को खतरा हो तो कुछ अधिकार अस्थाई रूप से सीमित किये जा सकते हैं।' किन्तु कुछ अधिकार किसी भी परिस्थिति में सीमित नहीं

किये जा सकते। जैसे जीने का अधिकार, यातना व दुर्व्यवहारों से मुक्ति का अधिकार, गुलामी से मुक्ति का अधिकार, कानून के समक्ष प्रत्येक व्यक्ति को एक व्यक्ति के रूप में पहचान का अधिकार, विचार, संज्ञान और धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, कानून के अनुसार कार्य करने के सिद्धान्त का अधिकार आदि। राज्य को सदैव इन अधिकारों का सम्मान करना चाहिए तथा दूसरे जो इन अधिकारों का हनन करते हैं उनको रोकने का कार्य भी राज्य को करना चाहिए।

पूछताछ के समय फांसी, नजरबंदी और दुर्व्यवहार किसी भी और सभी परिस्थितियों में वर्जित है। यद्यपि यहां साक्ष्य की समस्या है। सरकारें प्रायः इस बात से इंकार कर देती है कि ये कार्य जिनके द्वारा किये गये हैं वे उनके प्रतिनिधि हैं। अगर वे सरकार के प्रतिनिधि नहीं है तो सरकार मानव अधिकारों के हनन के लिए तब तक उत्तरदायी नहीं है जब तक कि उन्होंने इस प्रकार के कार्य करने वाले समूहों को रोकने में लापरवाही न बरती हो।

आपातकाल के समय अधिकारों को सीमित करने का अधिकार कई अन्य प्रकार से भी सीमित है। प्रथमतः यह तभी किया जा सकता है जब राष्ट्र के अस्तित्व पर गंभीर संकट हो। इस तरह का संकट, जिसके कारण अधिकार सीमित किये जाते हैं, स्पष्ट परिलक्षित होना चाहिए तथा संकटकाल में उठाये गये कदम भी अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होने चाहिए। अन्यथा यह मानवाधिकारों का हनन ही होगा।

द्वितीय, समानता के सिद्धान्त का सम्मान होना चाहिए। यदि समानता के सिद्धान्त का कठोरता से पालन नहीं किया गया तो व्यापक दमन अनावश्यक अवरोध को जन्म देगा।

तृतीय सम्पूर्ण आपातकाल में भेदभाव रहित व्यवहार के सिद्धान्त का भी सम्मान होना चाहिए। अधिकारों में कमी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से भेद-भावपूर्ण न हो। यदि सरकार उग्र कथन करने से रोकती है तो उन सबके विरुद्ध कार्यवाही अपेक्षित है जो ऐसा करते हैं, भले ही वे सरकार के पक्ष के लोग हों या अन्य पक्ष के।

चतुर्थ अधिकारों में कमी तथा ऐसे सभी कदम जो इसके अन्तर्गत उठाये गये हैं सामान्य स्थिति की बहाली तक ही सीमित होने चाहिए तथा मानव अधिकारों के सम्मान हेतु इन्हें जितना शीघ्र संभव हो समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

मानवाधिकार कानून संग्राम की स्थितियों में सीधे रूप से व्यवहार नहीं करता। ऐसी स्थिति में सामान्य प्रावधान व्यवहार्य होते हैं। जैसे राज्य जीवन के अधिकार के सम्मान तथा क्रूर व अमानवीय व्यवहार से मुक्ति के लिए बाध्य है। यहां यह समस्या आती है जब सत्ता को ही चुनौती दे दी जाती है (जैसे राजविद्रोह या सैनिक हस्तक्षेप) तब ये प्रावधान कैसे व्यवहार्य होंगे ?

नागरिक और राजनैतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय समझौते की धारा 6 जो जीवन के अधिकार से सम्बन्धित है, इस मुद्दे पर मौन है। मानवाधिकारों पर यूरोपियन कन्वेन्शन की धारा 2 के अनुसार जीवन की हानि उस समय विचारणीय नहीं है जब यह अत्यावश्यक शक्ति के प्रयोग के कारण हुई हो जैसे उपद्रव या राजद्रोह के दमन के लिए की जा रही कार्यवाही।

निःसन्देह मानव अधिकार कानून के समक्ष एक गंभीर समस्या है। किन परिस्थितियों में ऐसी शक्ति का प्रयोग आवश्यक है ? अहिंसक प्रदर्शन और एक दंगे के बीच विभाजक रेखा क्या है ? यहां तक कि दंगे में भी किसी को मारने का अधिकार नहीं है। यह कब अनिवार्य है—इसके लिए अभी भी कोई स्पष्ट मापदण्ड नहीं है। यद्यपि स्वैच्छिक रूप से नागरिकों के विरूद्ध सैनिक या पुलिस कार्यवाही, सरकार अथवा इसके एजेण्टों द्वारा आतंकवादी कार्यवाही तथा सामूहिक दण्ड आदि सदैव त्याज्य हैं। पर उन स्थितियों के लिए अभी भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अपेक्षा है, जो सामूहिक यातना व जातीय घृणा को बढ़ाती हैं।

सामाजिक एवं राजनैतिक संघर्षों में मानवाधिकार की आवश्यकता

उपर्युक्त सभी विवशताएं एवं सीमाएं संघर्षों के दौरान राज्य पर लागू होती हैं, भले ही वे सामाजिक संघर्ष हों या नृवंशीय। लेकिन

सामाजिक व राजनैतिक संघर्षों के समय कुछ अतिरिक्त बिन्दुओं पर ध्यान दिया जाना अपेक्षित है। जो समाधान मानवाधिकार कानून द्वारा सुझाये गये है उनकी पालना आवश्यक है। सामाजिक संघर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय, सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के अनुसार. पर्याप्त जीवनस्तर जिसमें भोजन व आवास सम्मिलित हैं, कार्य का अधिकार, शिक्षा व स्वास्थ्य सेवाओं का अधिकार आदि संरक्षित रहने चाहिए। संघर्ष के परिणामस्वरूप प्रभुत्व वाला समूह यदि दूसरे समूह का शोषण करता है तथा उनके सामाजिक अधिकार छीने जाते हैं तो मानवाधिकार कानून को चाहिए वह ऐसी परिस्थितियों को सुधारें।

राजनैतिक संघर्षो के समय भी यदि प्रभुत्व वाला समूह दूसरे समूह के लोगों को राज्य के राजनैतिक अंग के रूप में प्रवेश से इन्कार करता है तो ऐसी स्थितियों को भी ठीक करना मानवाधिकार कानून का कार्य है। यूनिवर्सल डिक्लेरेशन की धारा 21 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने राष्ट्र की सरकार में प्रत्यक्ष रूप से अथवा उनके द्वारा चयनित प्रतिनिधियों के रूप में हिस्सा लेने का अधिकार है तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपने राष्ट्र की सार्वजनिक सेवाओं में प्रवेश का अधिकार है। यही धारा यह भी स्पष्ट करती है कि लोगों की ईच्छा ही सत्ता का आधार होगी।

वंशीय व जातीय संघर्षों में मानवाधिकार कानून का महत्त्व

संघर्षों के दौरान मूलभूत मानव अधिकार निरन्तर लागू रहने के प्रावधान हैं किन्तु वंशीय व जातीय संघर्षों के सम्बन्ध में कुछ अन्य मुद्दे व समस्याएं उभरकर सामने आती रही है। अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार कानून में भेद-भाव को पूर्णतः समाप्त किये जाने का प्रावधान है, किन्तु वंशीय व जातीय भेदभाव पर आधारित संघर्ष पूर्णरूपेण समाप्त हो; मानवाधिकार कानून द्वारा यह सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है।

मानवाधिकार कानून के अन्तर्गत लोगों को आत्मनिर्णय का अधि ाकार है। इस अधिकार को इण्टरनेशनल कोवीनेंट ऑन इकोनोमिक, सोसियल एण्ड कल्चरल राइट्स तथा इण्टरनेशनल कन्वेंशन ऑन सिविल

एण्ड पोलिटिकल राइट्स, जिन्हें संयुक्त राष्ट्र द्वारा 1966 में स्वीकृति प्रदान की गई हैं; को स्वीकार करते है। इस अधिकार के संदर्भ में दो मुद्दे उभरकर सामने आते रहे हैं— 1. कौन-कौन व्यक्ति आत्मनिर्णय के अधिकार के अधिकारी हैं तथा 2. इस अधिकार की विषयवस्तु क्या है?

पहले मुद्दे के सम्बन्ध में धारा एक के अनुसार सभी लोगों को यह अधिकार प्राप्त है पर एक अन्तर अवश्य है कि कुछ राष्ट्रों के लोग इस अधिकार का उपयोग पहले से कर रहे हैं जबकि कुछ राष्ट्रों के लोगों को यह अधिकार अभी भी मिलना है। बहुराष्ट्रीय राज्य में एक देश आत्मनिर्णय का अधिकार रखता है बशर्ते वह उस राज्य में एक अलग राष्ट्र के रूप में संवैधानिक पहचान रखता हो। वे लोग जिन्होंने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की हो या जिनकी स्वतंत्र राजनैतिक अस्मिता हो, लेकिन उन्हें बिना उनकी स्वतंत्र सहमति के किसी अन्य राज्य में समाहित कर दिया गया हो तो उनका आत्मनिर्णय का अधिकार अवरूद्ध हो जाता है। इस तरह की सीमाओं पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का ध्यान आकर्षित कर सहमति प्राप्त करना आवश्यक है।

आत्मनिर्णय से सम्बन्धित दूसरा मुद्दा अधिकारों की विषयवस्तु है। यह अब सुस्पष्ट रूप से स्थापित हो चुका है कि इस अधिकार के दो पक्ष हैं—बाह्य व आन्तरिक। बाह्य आत्मनिर्णय बाह्य (विदेशी) नियंत्रण (जैसे उपनिवेश, जातिवाद) से मुक्ति का अधिकार है जबकि आन्तरिक आत्मनिर्णय इससे भिन्न है। यह राज्य की सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक नीतियों के निर्धारण या परिवर्तन के लिए सरकार के स्वतंत्र गठन एवं परिवर्तन से सम्बन्धित अधिकार है जो सभी लोगों को प्राप्त है। धारा-1 के अनुसार लोग अपनी राजनैतिक व्यवस्था निर्धारण करने के लिए स्वतंत्र है, अतएव आन्तरिक आत्मनिर्णय के लिए स्वतंत्र, खुले व स्वच्छ प्रजातंत्र की आवश्यकता है।

अल्पसंख्यकों के अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय मानवाधिकार कानून का शायद सबसे कमजोर पक्ष है। संयुक्त राष्ट्र गतिविधियों का प्रारम्भ से ही यह लक्ष्य रहा है कि अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए नियम बनाये जायें।

इस संदर्भ में इण्टरनेशनल कोवीनेंट ऑन सिविल एण्ड पोलिटिकल राइट की धारा-27 तक ही हम सीमित रहें हैं, जिसमें यह कहा गया है कि "जिन राज्यों में वंश, धर्म और भाषाई अल्पसंख्यक रहते हैं उन्हें अपनी संस्कृति, अपने धर्म और अपनी भाषा के प्रयोग से रोका नहीं जाएगा। धारा 27 की कई प्रकार की व्याख्याएं की जाती रही है। कुछ विद्वान् संस्कृति के सिद्धान्त में भौतिक के साथ-साथ आध्यात्मिक पक्ष का समावेश किये जाने के लिए तर्क प्रस्तुत करते है। उनका कहना है कि संस्कृति को बनाये रखने के लिए उन प्राकृतिक व अन्य संसाधनों पर नियंत्रण की अपेक्षा है जिनके आधार पर संस्कृति का निर्माण हुआ है। वे लोग जो जंगलों में रहते है, जिन्होंने अपने जीवन और शिकार के लिए जंगल के उपयोग पर आधारित संस्कृति का विकास किया है, उन्हें अपनी कला, नृत्य एवं रीति-रिवाजों को बनाये रखने का अधिकार है। वे वन और वनीय संसाधनों के नियंत्रण के अधिकारी भी निरन्तर बने रहने चाहिए, अन्यथा उनकी सस्कृति नष्ट हो जाएगी। कुछ विद्वानों का यह मानना है कि धारा 27 संस्कृति के केवल अभौतिक पक्ष की ही सुरक्षा करती है।

वंश और जाति संहार की घटनाएं भी व्यापक है। वंश संहार के परिणामस्वरूप एक नृवंश को उनकी अपनी भाषा बोलने से या उनके बच्चों को उस भाषा में शिक्षा ग्रहण करने से रोका जाता है। उन्हें लिखने के अधिकार तथा अपनी संस्कृति को बनाए रखने वाली आवश्यक भौतिक स्थितियों से वंचित किया जाता है।

जाति संहार में एक देश, एक वंश, एक जाति या एक धार्मिक समुदाय का पूर्णत· या आंशिक संहार के लिए कार्य किया जाता है। जाति संहार को यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत अपराध माना गया है पर अभी भी इस पर प्रभावशाली नियंत्रण स्थापित नहीं हो पाया है।

अत मानवाधिकार कानून संघर्षों के निराकरण के लिए महत्त्वपूर्ण आधार प्रस्तुत करता है, विशेषकर सामाजिक और राजनैतिक संघर्षों के निराकरण के लिए। लेकिन मानवाधिकार की व्यवस्थाएं जातीय संघर्षों के लिए अभी भी कम सहायक हो पा रही हैं।

मानवीय गरिमा का आदर

लोकतांत्रिक दर्शन अनेकान्तवादी है और वह प्रत्येक व्यक्ति को बेजोड़ मानता है। लोकतंत्र का विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति विलक्षण है। व्यक्तित्व का समादर तथा उसका विकास न केवल उन्नति के लिए आवश्यक है, अपितु समाज के लिए भी आवश्यक है। व्यक्ति अपने अद्वितीय व्यक्तित्व द्वारा समाज को अनुपम योगदान कर सकता है। समाज व राष्ट्र में अनेक ऐसे व्यक्ति होते रहे हैं, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व से न केवल समाज को, न केवल राष्ट्र को बल्कि विश्व को प्रभावित किया है। गांधी, मार्टिन लूथर किंग आदि व्यक्तियों ने पूरे समाज व राष्ट्र की दिशा को ही बदला है। इसी प्रकार से अनेक ऐसे व्यक्ति इतिहास में हो गये हैं जिनके अनुपम योगदान को आज भी यह विश्व याद करता है। लोकतंत्र की यह मान्यता है कि ऐसे व्यक्तित्व का विकास हर व्यक्ति कर सकता है, उसे इसकी पूर्ण स्वतंत्रता है, इसलिए हमें मानवीय गरिमा का आदर करना ही चाहिए।

राज्य व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की भागीदारी

लोकतंत्र का यह भी विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति उच्चतम पद पर पहुंचने का अधिकारी है तथा राज्य शासन में प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा है। इस दृष्टि से भी मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व का आदर अपेक्षित है। प्रत्येक व्यक्ति क्षमता के आधर पर समान है, पर उन क्षमताओं के विकास का तारतम्य हर व्यक्ति में अलग-अलग होता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो लोकतंत्र का उपरोक्त विश्वास और भी अधिक पुष्ट होता है। प्रत्येक व्यक्ति में यह सामर्थ्य है कि वह राष्ट्र के उच्चतम पद पर पहुंच सकता है, अपेक्षा है अपने सामर्थ्य को निरावरण करने की। व्यक्ति की गरिमा को स्वीकार करने से ही

राष्ट्र के शासन में उसकी भागीदारिता को भी स्वीकार किया जा सकता है अन्यथा विश्व में आज भी अनेक राष्ट्र हैं जहां मानवीय गरिमा का खुलकर विरोध होता है तथा जहां मानवता सिसकती है और राष्ट्र शासन में हिस्सा लेना तो उन लोगों के लिए एक स्वप्न ही होता है। इसलिए विश्वशांति व स्वस्थ लोकतंत्र के लिए भी हमें मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व को आदर देना होगा।

व्यक्ति का विकास स्वयं के पुरुषार्थ से

लोकतंत्र में व्यक्ति जो कुछ है, अपने स्वयं के कारण है, न कि वंश परम्परा, जाति, धर्म अथवा अन्य किसी बाह्य कारण के फलस्वरूप। व्यक्ति जो कुछ बनना चाहता है, अपने प्रयत्न तथा पुरुषार्थ से बन सकता है, अतः इनकी शिक्षा में भी अध्यवसाय, स्वावलम्बन, धैर्य, आत्म-विश्वास आदि गुणों के विकास पर जोर दिया जाता है। आर्थिक गुणों की दृष्टि से श्रम-निष्ठा, आलस्य के प्रति घृणा आदि भावों को विकसित किया जाता है। राजनैतिक दृष्टि से लोकतंत्र के आदर्शों के प्रति निष्ठा, कर्त्तव्य तथा अधिकारों के प्रति समर्पण आदि भावों को जागृत किया जाता है। इन गुणों के विकास के लिए सार्वभौम शिक्षा की व्यवस्था की जाती है, जिससे कि प्रत्येक बालक की विकास-संबंधी संभावनाओं का पता लगाया जा सके। इन संभावनाओं के आधार पर ही व्यक्ति अपना निर्माण स्वयं करता है। इसलिए भी व्यक्ति की गरिमा का आदर अपेक्षित है।

मानवीय गरिमा से संबंधित कांट के विचार

जर्मन दार्शनिक कांट ने मनुष्य के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता और उसके सम्मान से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया है। उनका यह सूत्र लोकतंत्र का प्राण है—"व्यक्ति को सदा ही साध्य समझा जाना चाहिए, किसी साध्य का साधन नहीं।" उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है—"इस प्रकार कार्य करो कि स्वयं तुम में तथा दूसरों में निहित मनुष्यता साधन मात्र न रहकर सदैव अपने आप में साध्य बनी रहे।"

कांट का यह नियम बतलाता है कि हमें स्वयं अपनी तथा दूसरों की स्वतंत्रता एवं प्रतिष्ठा का पूर्ण सम्मान करना चाहिए। इसके अनुसार हमें अपने आपको केवल इच्छाओं की तृप्ति का तथा अन्य व्यक्तियों को केवल अपनी इच्छा तृप्ति का साधन मात्र कदापि नहीं मानना चाहिए।

बौद्धिक प्राणी होने के नाते प्रत्येक मनुष्य का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व तथा गरिमा होती है। इसे अपनी इच्छाओं की तृप्ति के लिए कुचलने का किसी को अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त किसी व्यक्ति को यह अधिकार भी नहीं होना चाहिए कि वह दूसरों की इच्छाओं को तृप्त करने के लिए स्वयं अपने आपको साधन बनाकर अपने गौरव एवं स्वतंत्र व्यक्तित्व को नष्ट कर दे। इस प्रकार कांट का यह दर्शन हमें अपनी तथा अन्य सभी व्यक्तियों की मनुष्यता का सम्मान करने के लिए प्रेरित करता है।

बर्टेण्ड रसल व मानवीय गरिमा

बर्टेण्ड रसल ने कहा था—चूंकि मानव-प्रगति के मार्ग में एकतंत्रीय सत्ता विविध रूपों में सदैव बाधक रही है इसलिए मानव जाति के लिए उसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता व गरिमा के आदर की सर्वाधिक आवश्यकता रही है। साम्यवाद व फासीवाद इसलिए उपेक्षणीय है क्योंकि वे वैयक्तिक स्वतंत्रता और व्यक्ति की गरिमा को महत्त्व नहीं देते। रसल ने यह भी कहा कि हम तब तक सत्य पर नहीं पहुंच सकते जब तक कि मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व को समुचित आदर नहीं दें। क्योंकि इसके अभाव में हमें स्वतंत्र विचार एवं तर्क प्राप्त हो ही नहीं सकते। मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व को समुचित सम्मान देने का अर्थ है—व्यक्ति की रचनात्मक कार्य शक्ति को प्रेरित करना। रसल ने कहा—जहां एक व्यक्ति दूसरे का शोषण करता हो, एक का पेट भरा अन्यों का खाली हो तो ऐसी स्थितियों में मानवीय स्वतंत्रता का कोई औचित्य नहीं है।

विश्वशांति और मानवीय गरिमा

कांट और रसल के विचारों के संदर्भ में यदि वर्तमान परिस्थितियों पर चिंतन करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि विश्व की अशांति का मूल

कारण मनुष्यता को साधन मान लेना है। अनेक विकसित राष्ट्रों ने अपनी आवश्यकताओं व इच्छाओं की पूर्ति के लिए मानवीय गरिमा का तिरस्कार किया है तथा अनेक ऐसे भूखे-नंगे लोग हैं जिन्होंने अपनी क्षुधा तृप्ति के लिए अपने मानवीय गौरव और व्यक्तित्व को इन तथाकथित विकसित राष्ट्रों के हवाले कर दिया है। दक्षिणी अफ्रीका, लेटिन अमेरिका के देश एवं अनेक इस्लामी राष्ट्र इसके सशक्त उदाहरण हैं। मानवीय गरिमा को छीनने या उसे सौप देने के कारण विश्व में कुविकास व नव्य उपनिवेशवादी धारणाओं को बल मिला है।

मानवता के प्रति गरिमा कभी भी दूसरों की इच्छाओं की पूर्ति के साधन बनने की मनाही नहीं करती यदि वह कार्य कर्त्तव्य चेतना से प्रेरित होकर किया जाए। पर जब मनुष्य विवशतावश अपने आपको अथवा दूसरों को साधन मात्र मान लेता है और स्वयं विवश होकर दूसरों की इच्छाओं की पूर्ति करता है अथवा अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों को विवश करता है तब मानवीय गरिमा खतरे में पड़ जाती है। इसी आधार पर दासता, शोषण, धोखा, बलात्कार, हत्या आदि अनैतिक बनते हैं। क्योंकि इन सबमें मानवीय गरिमा का स्पष्टतः अनादर होता है तथा दुष्कर्म करने वाला व्यक्ति या राष्ट्र दूसरों को अपनी इच्छाओं की तृप्ति का साधन मात्र मान लेता है।

मानवीय गरिमा बनाम आत्म-तुला

मनुष्य जाति एक है—यही मानवीय गरिमा का आधार हो सकता है। इस सिद्धान्त की स्वीकृति के पश्चात् किसी के अधिकारों का हनन, किसी को मारना, कष्ट पहुंचाना, शोषण करना, तिरस्कार करना क्या स्वयं को मारने, सताने या कष्ट पहुंचाने का प्रयत्न नहीं है। जैन आगमों ने स्पष्ट घोषणा की है—पुरुष! जिसे तू हनन योग्य मानता है, जिसे तू परिताप योग्य मानता है, वह तू ही है। इस आत्मतुला की भूमिका पर ही मानवीय गरिमा का आदर पुरस्कृत हो सकता है। जाति, धर्म, वर्ग, वर्ण, प्रांत, राष्ट्र, सत्ता आदि भेदों को यथार्थ व मुख्य मानकर पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और न्याय की

हत्या मानवीय मूल्यों की हत्या है, मानवीय गरिमा का अपमान है। इन आरोपित भेदों को वास्तविक मानकर किसी को हीन या शोषण योग्य या साधन मानना स्वयं की ही हीनता है। ये भेद प्रकृतिगत नहीं हैं बल्कि मनुष्य द्वारा ही निर्मित हैं। अतः यदि हम हर मनुष्य/हर प्राणी को आत्मवत् समझें तो मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व के प्रति आदर सहज ही घटित होगा।

भारतीय और पाश्चात्य चिन्तन में मानवीय गरिमा

गीता, जैन, बौद्ध आदि भारतीय चिन्तन तथा यूनानी व पाश्चात्य चिन्तन में मानवीय गरिमा के प्रति आदर की बात को स्वीकारा गया है। यूनानी दार्शनिक प्रोटोगोरस ने कहा है—मनुष्य सभी चीजों का मापदण्ड है। बाईबिल में भी मानवीय गरिमा को इस रूप में बतलाया गया है—विश्राम के दिन मनुष्य के लिए बने हैं न कि मनुष्य विश्राम के दिनों के लिए। गांधीजी ने मानवीय गरिमा को स्वीकार करते हुए कहा है—सभी मनुष्यों का समान आदर हो, इससे ही शोषण, अस्पृश्यता जैसी महामारियों का शमन हो सकेगा। कांट और रसल के विचारों को तो हम देख ही चुके हैं। गीता, जैन आदि वैदिक व श्रमण धाराएं मनुष्य की गरिमा को स्वीकार करती हैं और कहती है—सभी मनुष्य अपना स्वतंत्र विकास कर सर्वोच्च शिखर पर पहुंच सकते हैं।

अतः मानवीय गरिमा व व्यक्तित्व का सम्मान केवल लोकतांत्रिक मान्यताओं के लिए ही सार्थक नहीं है बल्कि विश्व में अशांति का कारण असमानता को दूर करने के लिए भी आवश्यक है। मानवीय गरिमा की पुनः प्रतिष्ठा के लिए ही संयुक्त राष्ट्र ने मानवाधिकार आयोग की स्थापना की है। यह सही है कि मानवता के प्रति आदर न होने से तथा मनुष्य को अपनी स्वार्थ पूर्ति का साधन समझ लेने से ही आज विकसित व विकासशील व अविकसित राष्ट्रों के बीच की खाइयां चौड़ी हुई हैं। विश्वशांति के लिए अपेक्षा है कि हमारी शिक्षा ऐसी हो जो मानवीय गरिमा के प्रति आदर सिखलाए तथा व्यक्तित्व की स्वतंत्रता में विश्वास करे।

विश्व समाज और विश्व नागरिकता

पिछले दो विश्व युद्धों ने मानवता के संहार का जो भयावह रूप प्रस्तुत किया है, उससे यह अनायास ही सोचना पड़ता है कि मानवता को यदि सुरक्षित रखना है तो उसे अनिवार्य रूप से युद्ध के संकट से बचाना होगा। विश्व को सुन्दर व सुखमय जीवन जीने के योग्य बनाना है तो इसे युद्ध की संभावनाओं से बचाना होगा। सम्पूर्ण विश्व एक बंधुत्व के सूत्र में बंधे और प्रत्येक व्यक्ति भौगोलिक, देशीय, जातीय, धार्मिक आदि संकीर्ण मान्यताओं से ऊपर उठकर सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति सद्‌भाव रखे, तब ही विश्व शांति स्थापित हो सकती है। विश्व शांति व विश्व नागरिकता की आवश्यकता इसलिए भी है कि आज का विश्व अत्यधिक सीमित होता जा रहा है। आवागमन के साधन, संचार की सुविधा, आर्थिक अन्तार्श्रितता, तकनीकी आदान-प्रदान आदि विश्व नागरिकों तथा राष्ट्रों को एक-दूसरे के निकट ला रहे हैं, इसलिए आचार्य विनोबा भावे ने आज के युग को 'संश्लेषण युग' कहा है।

भारतीय चिन्तन ने सदैव सम्पूर्ण चर-अचर को एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया है। सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार के रूप में देखने और विश्व बंधुत्व की मान्यता को आगे बढाने का ध्येय सदा से ही भारतीय संस्कृति का आधार रहा है। इस मान्यता के पीछे सम्पूर्ण जीवों में आत्मा की उभयनिष्ठता प्रधान रही है। इस अर्थ में सभी मानव चाहे वे किसी देश के हों, जाति के हों, धर्म के हों, उनमें मतभेद नहीं बल्कि उनके सह-अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। परन्तु आज विश्व समाजों में जो कठोर व संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना ने जन्म ले लिया है, वह समाजों और व्यक्तियों

को अलग-अलग सीमाओं में बांट देता है। संकीर्ण राष्ट्रीयता की अनिवार्य परिणति युद्ध है, अतः विश्व नागरिकता और एक शांतिपूर्ण विश्व का विकास होना ही चाहिए। रोम्या रोला के शब्दों में—"भयंकर विनाशकारी दो युद्धों ने कम से कम इस तथ्य को स्थापित कर ही दिया है कि प्रचण्ड आक्रमणकारी राष्ट्रीयता को समाप्त कर देना चाहिए और दीवार रहित व वर्ग-विहीन मानवता का संघ बनाना चाहिए ताकि, प्रेम, दया और सहानुभूति की भूमि पर मानवीय संबंधों का विकास किया जा सके।"

विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था की संकल्पना का विकास

इस संकल्पना का विकास सर्वप्रथम जरमी बेन्थम ने किया। उन्होंने राष्ट्रों के सार्वभौमिक रूप में मतभेदों व झगड़ों को सुलझाने हेतु विश्व न्यायालय की संकल्पना प्रस्तुत की। कोमेनियस दूसरा विचारक था, जिसने सम्पूर्ण विश्व में न्याय और शांति की स्थापना के लिए शिक्षा तथा विश्व सरकार की बात रखी। कांट ने विश्व शांति के लिए सभी देशों के एक संघ की आवाज उठाई। कोपरनिक्स, गैलीलियो, केपलर, न्यूटन आदि वैज्ञानिकों की खोजों ने राष्ट्रीयता की सीमाएं लांघ ली। इससे देश, जाति, धर्म आदि सीमाओं का अतिक्रमण हुआ और मानवता को एक सूत्र में बांधने का क्रम शुरू हुआ। इनके पश्चात् डार्विन ने यह सिद्ध कर दिया कि सभी मनुष्य चाहे काले हों या गोरे सभी का उद्‌गम एप्स जाति का बंदर है। इस आधार पर उन्होंने सभी मनुष्यों में एकसी क्षमता और संभावनाओं को स्वीकार किया। मार्क्स का वर्गविहीन समाज का नारा विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था की भावना को आगे बढ़ाने में मील का पत्थर साबित हुआ और वर्तमान में परमाणु अस्त्र-शस्त्रों के कारण हिंसा की समग्रता ने विश्वनागरिकता और शांतिपूर्ण विश्व के विचार को आवश्यक बना दिया है।

भारत में विश्व नागरिकता की संकल्पना बहुत पहले से रही है। "वसुधैव कुटुम्बकम्"—सारा विश्व परिवार है, "सर्वे भवन्तु

सुखिनः''— सारा विश्व सुखमय हो आदि सूत्र भारतीय दृष्टिकोण व चिन्तन को स्पष्ट करते हैं।

विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था के लिए इन मान्यताओं का होना ही पर्याप्त नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्तियों में उदारता, संवेदनशीलता, सहयोग आदि की भावना विकसित हो।

विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था की संकल्पना

यह संकल्पना विश्व मैत्री और बंधुत्व पर आधारित है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद यह भावना बनी कि विश्व शांति के लिए राष्ट्रों व उनके प्रतिनिधियों के मध्य समझ और सौहार्दता ही पर्याप्त नहीं है बल्कि देशों के निवासियों में भी परस्पर समझ और सौहार्दता होना अत्यन्त जरूरी है। गोल्ड स्मिथ ने कहा है—''अन्तर्राष्ट्रीयता एक भावना है जो व्यक्ति को यह बताती है कि वह अपने राज्य का ही सदस्य नहीं बल्कि विश्व का नागरिक भी है।'' अब विश्व समाज द्वारा जो युद्ध छेड़ना है, वह होगा—अज्ञानता के विरुद्ध, गरीबी के विरुद्ध, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध, भूखमरी के विरुद्ध, बीमारी के विरुद्ध, दमनात्मक क्रिया-कलापों के विरुद्ध जो मानवता को संकीर्ण घेरे में बांधती है। अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव हेतु दो आवश्यक शर्तें होंगी—

1. सभी व्यक्तियों में यह इच्छा और अभिलाषा उत्पन्न करना कि वे विश्व समाज में साथ-साथ रहेंगे। जहां सभी को समान न्याय बिना किसी जाति, जन्म, राष्ट्रीयता, वर्ग, धर्म और रंग की मान्यताओं के आधार पर प्राप्त होगा।

2. सामान्य हितों और आपसी समझ द्वारा स्थापित लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सम्मिलित प्रयासों की ओर प्रत्येक को तत्पर और प्रेरित होना होगा।

शिक्षा की आवश्यकता

संकुचित राष्ट्रीयता ने दो विश्व युद्ध देखे हैं। सरकार की आर्थिक और राजनैतिक धारणाओं पर आधारित शांति दीर्घकालिक व सर्वमान्य नहीं होती। यदि विश्व शांति और सह-अस्तित्व के प्रयासों को स्थायी

बनाना है तो इसे मानव की बौद्धिकता और नैतिक सुदृढ़ता पर आधारित करना होगा। यूनेस्को के प्रियेम्बल में यह स्वीकृत है कि युद्ध मनुष्यों के मस्तिष्क में उपजता है तो निश्चित ही शांति भी उसी मस्तिष्क की उपज होगी। अज्ञानता और गलतफहमियां व्यक्तियों व राष्ट्रों में डर और भ्रम पैदा करती हैं, अतः अज्ञानता को दूर कर और परस्पर समझ को विकसित कर अन्तर्राष्ट्रीय शांति का वातावरण बनाया जा सकता है। यह भार निर्विवाद रूप से शिक्षा पर है।

विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था के विकास के लिए शिक्षा के निम्नलिखित लक्ष्य निर्धारित किये जा सकते हैं—

1. निस्वार्थता का विकास—शिक्षा द्वारा छात्रों में निजी हितों को सामान्य हितों के लिए त्याग की भावना जागृत करनी चाहिए।

2. छात्रों में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास हो जिससे वे पूर्व धारणाओं या अभिमतों के शिकार न हों तथा दूसरे मतों व दृष्टिकोणों के प्रति उदार व सहिष्णु हों।

3. छात्रों में संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना न भरी जाए। उन्हें यह बोध देना आवश्यक है कि वर्तमान समय में अपने देश का संसार से अलग होकर अस्तित्व संभव नहीं है।

4. मनुष्यों के अन्योन्याश्रित संबंध को स्पष्ट करना चाहिए। संसार के प्रत्येक प्राणी एक दूसरे पर आश्रित हैं। परस्परोपग्रहो जीवानाम्—सभी प्राणी एक-दूसरे को उपकृत करते हैं।

5. मानवता में विश्वास उत्पन्न किया जाए, जिससे व्यक्ति एक-दूसरे को छोटा-बड़ा नहीं समझेगा तथा सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित होगी।

6. अन्य राष्ट्रों की संस्कृति का ज्ञान एवं उनका आदर करें।

पाठ्यक्रम

हमारे पाठ्यक्रम में कुछ विषय ऐसे होते हैं जो स्वभावतः ही अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव के विकास व शिक्षण के लिए प्रचुर सामग्री व

संभावनाएं रखते हैं, जैसे—इतिहास, भूगोल, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, साहित्य, समाज-शास्त्र आदि। इन विषयों की विषय-वस्तु ऐसी है जो हमें मानव समाज में अपनी स्थिति को समय और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में सोचने-समझने की पर्याप्त सामग्री प्रदान करती है। इन विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय प्रस्तुतीकरण के साथ पाठ्यक्रम में निम्नलिखित बिन्दुओं पर भी ध्यान देना अपेक्षित है—

* सम्पूर्ण पृथ्वी का ज्ञान।
* सभी नागरिकों के रहन-सहन का ज्ञान।
* विश्व संस्कृतियों का ज्ञान।
* जीवन शैली का परिचय।
* विश्व के प्रमुख धर्मों की जानकारी।
* विश्व के बिखरे सौन्दर्य का ज्ञान।
* मानव के शांति स्थापित करने के अब तक के प्रयास आदि।

पाठ्येतर कार्यक्रम

विश्व नागरिकता और नई विश्व व्यवस्था के विकास की संभावनाएं पाठ्येतर क्रियाओं में अधिक होती है। क्योंकि इन क्रियाकलापों में छात्रों की सहभागिता स्वेच्छा पर निर्भर होती है। प्रार्थना, भ्रमण, पर्यटन, प्रदर्शन, संस्कृति व साहित्यिक प्रतिस्पर्धाएं उन्हें एक-दूसरे के निकट लाती है, तथा एक-दूसरे की अच्छाइयों को जानने व अपनाने का अवसर भी मिलता है।

संयुक्त राष्ट्र दिवस, मानवाधिकार दिवस, साक्षरता दिवस आदि अनेक अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व के समारोहों का आयोजन विश्व नागरिकता के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय ज्वलन्त समस्याओं जैसे—रंग-भेद की नीति, जनसंख्या वृद्धि नि.शस्त्रीकरण पर्यावरणीय प्रदूषण आदि को लेकर वाद-विवाद, नाट्य रचना आदि द्वारा इन समस्याओं से परिचित कराया जा सकता है। उन्हें इससे निष्पक्ष मत बनाने में सुविधा मिलती है तथा नई विश्व व्यवस्था के निर्माण में भी सहयोग

मिलता है। प्राकृतिक प्रकोपों के समय कार्य, विकलांगों आदि की सहायता से परस्पर उदारता, सहिष्णुता, प्रेम, दया, सहानुभूति आदि मूल्यों के विकास से भी विश्व-शांति के विचारों को बल मिलता है।

विश्व नागरिकता के लिए यूनेस्को के प्रयास

संयुक्त राष्ट्र संघ ने यूनेस्को की स्थापना कर विश्व नागरिकता और नये विश्व के निर्माण का दृष्टिकोण विकसित किया है। यूनेस्को ने इस दृष्टि से तीन उद्देश्यों को पूर्ण करने का प्रयत्न किया है—

1. विश्व राष्ट्रों में पारस्परिक ज्ञान तथा अवबोध उत्पन्न करना।
2. संस्कृति तथा शिक्षा का प्रसार करना।
3. ज्ञान की सुरक्षा, वृद्धि और प्रसार करना।

मनुष्य दो विश्वयुद्ध के परिणामों को भोगने के बाद तीसरे विश्व युद्ध को नहीं चाहता। वह शांति चाहता है। शांतिकाल में ही उच्च कोटि की कला व संस्कृति का निर्माण होता है। युद्ध तो कला व संस्कृति का संहारक है। अब युद्ध का खतरा मोल लेना मानवता के विनाश का खतरा मोल लेना है। मानवता का कल्याण विश्वशांति में ही है। हिंसा की समग्रता ने तथा आर्थिक, वैज्ञानिक व तकनीकी, राजनैतिक व सामाजिक घटकों ने विश्व को करीब लाने और सहयोग व सद्‌भाव को विकसित करने में अहम भूमिका निभाई है। अब वह शिक्षा ही है जो विश्व नागरिकता व नई विश्व व्यवस्था को साकार कर सकती है।

जीवन के प्रति सम्मान

अल्बर्ट स्वेजर एक ऐसे जर्मन दार्शनिक हैं जिन्होंने पाश्चात्य दर्शन में नैतिकता के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किया। स्वेजर से पूर्व दार्शनिकों की यह मान्यता थी कि नैतिकता का क्षेत्र केवल मानव है। इसलिए व्यवहारों के औचित्य और अनौचित्य का प्रश्न केवल मानव जगत् से ही उठता है। मानवेतर प्राणियों के प्रति व्यवहार का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। अल्बर्ट स्वेजर ने भारतीय दर्शन और विशेषकर जैन दर्शन से प्रभावित होकर नैतिकता का विस्तार सम्पूर्ण प्राणियों के लिए किया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नैतिक और अनैतिक व्यवहार का प्रश्न केवल मानव जगत् तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसका सम्बन्ध अन्य प्राणियों के प्रति मानव द्वारा किये गये व्यवहारों से भी है। स्वेजर ने नैतिकता के क्षेत्र में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उसे हम जीवन के प्रति सम्मान (Reverence for life) के नाम से जानते हैं।

अल्बर्ट स्वेजर ने डेकार्ट के इस सिद्धान्त का खण्डन किया—"मै सोचता हूं इसलिए मैं हूं"। स्वेजर ने कहा—"मैं जीवन हूं, जिसे मै उन प्राणियों के मध्य रहकर जीना चाहता हूं जो जीना चाहते है।" अर्थात् मनुष्य जीना चाहता है और वह अकेले नहीं जीना चाहता बल्कि उन सभी जीवों के बीच जीना चाहता है जो मनुष्य की भांति ही जीना चाहते हैं। "मैं जीना चाहता हूं" कथन से अल्बर्ट स्वेजर का यह अभिप्राय है कि मनुष्य में रहस्यात्मक उन्नति की चाहत है, जिसे हम एक शब्द में सुख (Pleasure) कहते है।

भगवान् महावीर ने कहा—कोई भी मनुष्य दुःख नहीं चाहता। जिस प्रकार तुम सुख की चाहत रखते हो, उसी प्रकार अन्य जीव भी सुख की चाहत रखते हैं दुःख की नहीं। स्वेजर के अनुसार वही मनुष्य नैतिक है, जो सभी जीवों की हर प्रकार से सहायता करने का दायित्व बोध अपने ऊपर लेता है। जहां तक उसमें क्षमता हो, वह दूसरे प्राणियों की सहायता करे तथा किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुंचाये। दूसरे शब्दों में उनका कहना है कि जीव चाहे छोटा हो या बड़ा सबका जीवन पवित्र है (Life is sacred)। इससे स्पष्ट है कि अल्बर्ट स्वेजर निषेधात्मक और भावात्मक दोनों रूप से अहिंसा का प्रतिपादन करते हैं। निषेधात्मक रूप से अहिंसा के अन्तर्गत सभी प्राणियों की हिंसा (हत्या एवं दुःख देना) का निषेध करते हैं और भावात्मक रूप से सभी प्राणियों के उन्नत जीवन जीने में सहायता करने का समर्थन करते हैं।

प्रश्न है कि अल्बर्ट स्वेजर व्यक्तिगत जीवन से सार्वभौम जीवन की सुरक्षा का सिद्धान्त क्यों प्रस्तुत करते है। वस्तुतः तो वे सभी जीवन की अखण्डता में विश्वास करते है। वे मानते हैं कि सभी प्राणी एक-दूसरे के लिए उपयोगी है, इसलिए उनके प्रति प्रेम और उनके जीवन का सम्मान हमारा धर्म हो जाता है। केवल मनुष्य ही एक-दूसरे के लिए मूल्यवान नहीं है, पशु-पक्षी, छोटे जीव भी मनुष्य के लिए मूल्यवान हैं। उदाहरणार्थ हम मानव कल्याण के लिए कुछ जीवों पर प्रयोगशाला में प्रयोग करते हैं, उनको यातना देते है, उनकी हत्या कर उनकी चीरफाड़ करते हैं और उसके आधार पर मानव के लिए हितकर सिद्धान्त की स्थापना करते है अथवा अमूल्य औषधि का निर्माण करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हर जीव मनुष्य के लिए उपयोगी है। उन्हें उपयोगी जानकर हमें उनकी सुरक्षा करनी चाहिए। उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए। जानबूझकर उनका शोषण नहीं करना चाहिए और यदि अपरिहार्य कारणवश हम उनकी हिंसा करते हैं

तो इसके लिए पश्चाताप तो करना ही चाहिये, साथ ही साथ इस कर्म को दूर करने के लिए भावात्मक रूप से भी कदम उठाना चाहिये।

अलबर्ट स्वेजर के अनुसार अहिंसा की नीति का आधार बाहरी जीव नहीं बल्कि अन्तरात्मा है। इसलिए उनकी दृष्टि में दया जो विशेष रूप से दूसरों के प्रति की जाती है, नैतिकता की दृष्टि से बहुत ही संकीर्ण है। नैतिकता के अंतर्गत अपनी हर परिस्थितियों में सुखमय जीवन की आकांक्षा रहती है तथा दूसरों के सुखमय जीवन में सहायक बनकर अपनी आत्मा को पूर्ण करने की चेतना होती है।

अहिंसा सभी प्राणियों के प्रति प्रेम है। प्रेम का अर्थ सुख-दुःख एवं प्रत्येक प्रयत्नों में सभी के प्रति भाईचारेपन का अनुभव करना है। हर जीवन के प्रति सम्मान हमारे जीवन की मूल प्रेरणा है, दिशा निर्देशक शक्ति है तथा सहानुभूति, प्रेम तथा अन्य सभी मूल्यवान उत्साहों का आधार है। परन्तु दुःख की बात है कि यह संसार एक ऐसा दुःखान्त नाटक है कि जिसमें हर व्यक्ति जीवन के विरुद्ध ही जीना चाहता है, एक-दूसरे को नष्ट कर अपना अस्तित्व कायम रखना चाहता है। तभी जीवन के प्रति सम्मान का सिद्धान्त इससे भिन्न परिदृश्य की कल्पना करता है। इस व्यवस्था में अपनी जिजीविषा के अन्तर्गत दूसरे की जिजीविषा का ज्ञान भी सम्मिलित है। इसमें सम्पूर्ण जीवन को सर्वभौम बनाने की दृष्टि से एकता स्थापित करने की आकांक्षा रहती है। इसलिए जीवों के प्रति सम्मान के नीतिशास्त्र का अर्थ है— अपने जीवन का सम्मान करना और अपने जीवन से इतर जीवन का सम्मान करना।

अल्बर्ट स्वेजर कहते हैं कि वही व्यक्ति अपनी आंतरिक स्वतंत्रता का अनुभव करता है जो दूसरे के जीवन की स्वतत्रता के संरक्षण में सहायक है। यहां स्वेजर की स्थिति जैन दर्शन की उन भावनाओं से है, जहां कहा गया है—अन्तःकरण की विशुद्धता और बाह्य रूप

से अन्य प्राणियों के प्रति दया दोनों अहिंसा व्रत के पालन के लिए आवश्यक है।

सामान्यतः हम क्षमा और सहिष्णुता को भी अहिंसा के अन्तर्गत लेते हैं, परन्तु प्रश्न है कि हमें क्षमा क्यों करनी चाहिये? स्वेजर का मानना है कि हम दूसरों को क्षमा नहीं करते, अपने आपको क्षमा करते है। उनका कहना है अच्छाइयां और बुराइयां सब में हैं। सामान्यतः कोई हम पर गुस्सा करता है, गाली देता है, मारता है या अन्य प्रकार से अहित करता है, तो हम इसका बदला लेना चाहते हैं। स्वेजर कहते हैं कि उससे बदला लेने से पूर्व मुझे सोचना होगा कि मैं किसी को मारता हूं या नहीं। और यदि मुझमें किसी न किसी परिमाण में ये दोष है तो इसका अर्थ है—दूसरे के द्वारा किये अहितकर व्यवहार को क्षमा करना, अपने आपके द्वारा किये गये अहितकर व्यवहार को क्षमा करना है। नीतिशास्त्र में दो प्रकार की युक्तियां काम में लाई जाती है—पर-समर्थक और स्व-समर्थक। अल्बर्ट स्वेजर स्व-समर्थक युक्ति पर विश्वास करते है और इस प्रकार की युक्ति श्रेष्ठ मानी जाती है। उनका कहना है—किसी भी व्यवहार पर दूसरों के आधार पर निर्णय नहीं किया जा सकता है।

वे कहते है—दूसरे के प्रति दया करके मैं भद्र, शांत और क्षमाशील नहीं हूं बल्कि उस व्यवहार के कारण हूं, जिसके द्वारा मैं गहरी आत्मानुभूति की सत्यता को प्रमाणित करता हूं। अल्बर्ट स्वेजर नैतिकता के सबंध में और विशेषकर जीवन के प्रति सम्मान के सिद्धान्त में सापेक्ष नैतिकता को नहीं मानते, उनके अनुसार शुभकर्म हर अवस्था में दूसरे के जीवन की प्रगति को देखता है। किसी भी परिस्थिति में अन्य प्राणी को कष्ट देना या हत्या करना उनकी दृष्टि में पाप है। यह ठीक है कि अपने अस्तित्व की रक्षा करने के लिए अनिवार्यतावश व्यक्ति को दूसरे जीवों की हत्या करनी पडती है, परन्तु यह उसकी अनिवार्यता है, नैतिकता नहीं। नैतिकता का तकाजा है—

सोच समझकर किसी जीव की हत्या न करें या दुःख न पहुंचायें। जिस प्रकार जैन दर्शन में प्रमाद को हिंसा का मूल कारण माना गया है, अल्बर्ट स्वेजर भी असावधानी (प्रमाद) को ही हिंसा का मूल कारण मानते हैं। इसलिए वे दूसरे जीवों के प्रति संवेदनशील होने की शिक्षा देते हैं और यथासंभव उनके कल्याण का दायित्व व्यक्ति के स्वयं के निर्णय पर छोड़ देते हैं। इसी दायित्व बोध में अहिंसा का निवास है।

अतएव अल्बर्ट स्वेजर के दर्शन में अहिंसा का आधार सभी जीवों की समता है, जीवन की अखण्डता है, जीवों की परस्पर पूरकता है और अहिंसा का सार संयम में निहित है।

अहिंसा-प्रशिक्षण

मानवीय संवेग हिंसा के लिए उत्तरादायी

संवेग प्राणी की उत्तेजित अवस्था है। ऐसी उत्तेजनाएं प्रायः आकस्मिक और तीव्र होती हैं। संवेगात्मक उत्तेजना की तीव्रता इतनी अधिक होती है कि इस उत्तेजना के बने रहने तक प्राणी के अन्य सभी व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। संवेग की इसी विशेषता के कारण मनोवैज्ञानिकों ने इसे एक विध्वंसात्मक शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। हर प्रेरणा के साथ किसी न किसी संवेग का संबंध जुड़ा रहता है। जैसे आक्रामकता एवं कलहप्रियता के साथ क्रोध का, पलायन के साथ भय का संवेग में प्राणी के पास अतिरिक्त शक्ति होती है जिसे वह प्रेरणा की तृप्ति हेतु व्यय कर सकता है। संवेगात्मक स्थिति में हमारे अन्दर एक प्रकार की हलचल मच जाती है तथा साथ ही हमारी शारीरिक क्रियाओं में भी परिवर्तन होता है। भय के समय हम घबरा जाते हैं तथा घबराहट के कारण हमारी मुखाकृति पीली हो जाती है, शरीर कांपने लगता है। इसी प्रकार क्रोध की स्थिति में हमारी मुखाकृति लाल हो जाती है तथा श्वास की गति तीव्र हो जाती है।

संवेग दो प्रकार के हैं—सुखद एवं दुखद। सुखद संवेदनों से सृजनात्मक प्रवृत्ति बढ़ती है जबकि दुखद संवेदनों से विध्वंसात्मक प्रवृत्ति। लोभ, भय, शत्रुता आदि दुखद संवेदन है जो विध्वंसात्मक हैं तथा ये हिंसा एवं युद्ध के लिए भी जिम्मेदार हैं।

युद्ध हिंसा सार्वभौमिक है, यह सदैव होती रही है। अनेक देशों के पुराण व इतिहास इसके प्रमाण हैं। ये युद्ध, धर्म, प्रतिरोध, अस्तित्व, स्वतंत्रता, भोजन, भूमि, स्त्री, गौरव, लिप्सा आदि के लिए लड़े गए हैं। एलिक्स स्ट्रेची ने कहा है—"इन सबको देखते हुए व इस प्रकार

से देखने पर लगता है कि युद्ध करने की आवश्यकता मनुष्य के लिए कोई स्वदेशी वस्तु है। वह एक ऐसी चीज है जो अन-उन्मूलीय है मानव मस्तिष्क में इसकी जड़ें गहरी हैं इसलिए युद्ध को समाप्त करने के प्रयास निरर्थक हैं।'' मूलतः यदि देखा जाए तो हिंसा या युद्ध का मुख्य कारण मानव स्वभाव की इच्छाएं और वासनाएं हैं। चूंकि मानवीय इच्छाओं और वासनाओं को नियंत्रित/संयमित किया जा सकता है, इसलिए निश्चित ही शांति के प्रयास सार्थक हैं।

युद्ध या हिंसा के तीन कारण बतलाए गये हैं—

1. प्राप्ति की इच्छा (Desire for gain)
2. क्षति का भय (Fear of injury)
3. बहादुरी से प्रेम (Love of glory)

उपर्युक्त तीनों कारण संवेगों पर आधारित हैं। कुछ प्राप्ति की इच्छा लोभ का संवेग है। क्षति या चोट की शंका भय का संवेग है। बहादुरी की प्रशंसा मिथ्याभिमान का संवेग है। ये तीनों ही हिंसा या युद्ध के समन्वित कारण हैं। हिंसा का पहला प्रयोग स्वयं को दूसरे व्यक्तियों या पशुओं आदि का स्वामी बनाने के लिए होता है। हिंसा का दूसरा प्रयोग स्वामित्व को सुरक्षित रखने के लिए होता है और हिंसा का तीसरा प्रयोग उन्हें यह अनुभव देने में होता है कि उन्हें कम आंका जा रहा है।

कुछ संवेगों को विस्तार से देखें—

लोभ (Greed)

सुकरात ने कहा था—''लोग सरल जीवन पद्धति में संतुष्ट नहीं होते। वे सोफा, मेज तथा अन्य उपस्कर (फर्नीचर) इकट्ठा करते रहेंगे। हमें आवास, वस्त्र तथा भोजन जैसी आवश्यकताओं से आगे बढ जाना चाहिए, उसके पश्चात् हमें अपनी सीमाओं को बढ़ाना चाहिए क्योंकि मूल स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती ...... और जो प्रदेश अपने निवासियों का भरण-पोषण करने में काफी था, वह अब

उसके लिए छोटा हो जाएगा, काफी नहीं रहेगा ...... तब हम पड़ोसियों की जमीन का टुकड़ा हथियाना चाहेंगे। यदि हमारी तरह उनकी भी आवश्यकताएं सीमा को पार कर जायें और वे स्वयं धन के असीमित संचय के लिए लग जाएं तो परिणाम होगा—युद्ध।"

जब व्यक्ति अपनी अनिवार्यताओं/आवश्यकताओं से विलासिताओं की ओर बढ़ने लगता है तो परिणाम संघर्ष के अलावा और हो भी क्या सकता है। आवश्यकता ने हमें अस्त्र दिये, प्रतिस्पर्धा उनमें विविधता लाई तथा सर्वाधिक बलशाली बनने के विचार ने उनके किनारों को और ज्यादा नुकीला किया।

आर्य लोग लालचवश ही भारत आये। अंग्रेजी शासन को रोडेशिया एवं ट्रांसवल की स्वर्ण-खाने, भारत का जूट तथा बर्मा का रबड़ खींच लाया। न जाने लालच के वशीभूत हो कितनी हिंसा हुई है ? इसी संवेग ने व्यक्ति की दृष्टि में अन्य सब प्राणियों को उसका भोग्य बना दिया।

क्रूरता (Cruelty)

मेक्डूगल के अनुसार मूल प्रवृत्तियां मानवीय स्वभाव पर शासन करती है। यदि शक्तिशाली लोगों में लड़ने की प्रवृत्ति है तो शांति कभी भी सम्भव नहीं। विलियम जेम्स के अनुसार—युयुत्सा (युद्ध की इच्छा) व्यक्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त होती है। अस्तित्व के संघर्ष में केवल वही जातियां जीवित रहीं जो युद्धप्रिय थी।

रोटी और रोजगार ने व्यक्ति को इतना क्रूर बना दिया कि वे किलिंग प्रोफेसन की ओर जाने को बाध्य हो गये। बर्नाडशा लिखते हैं—प्रारंभ में कोई भी इज्जतदार औरत ऐसे किसी व्यक्ति से शादी नहीं करती थी जो कुछ लोगों या पशुओं को मौत के घाट नहीं उतार देता था।

वर्तमान में नागरिक स्वयं ही सेना गठन करते हैं, उनके लिए पैसा चुकाते हैं तथा उन सैनिकों की जानें उनके लिए बंधक होती

हैं। हम यह नहीं सोचते कि वे भी हमारे ही भाई हैं। उनकी प्रवृत्ति भी क्रूर नहीं थी, मारने की नहीं थी। पर धीरे-धीरे हमने उन्हें प्रशिक्षण दिया और क्रूर बना दिया। आज के युद्ध साधनों ने उनकी चेतना को लुप्त कर दिया है। कुत्ते-बिल्ली से घबराने वाला मनुष्य इतना क्रूर बन जाता है।

आज तो क्रूरता मनोरंजन बनती जा रही है। स्वयंसेवी नागरिक युद्ध को मनोरंजन हेतु देखना चाहते हैं ताकि उन्हें समाजसेवा का मौका मिले। प्राचीन समय में और आज भी अरब राष्ट्रों में पशुओं को आपस में लड़ाकर क्रूरतापूर्ण मनोरंजन किया जाता है। क्रूरता की हद तब हो जाती है जब अबोध शिशुओं को पशुओं की पीठ पर बांधकर पशुओं को उकसाने का कार्य उनसे लिया जाता है तथा स्वयं की विलासिताओं व प्रसाधनों के नाम पर अबोध व करुण पशुओं की जानें ले ली जाती हैं।

आर्थिक जगत् में शोषण भी क्रूरता का उदाहरण है। बिना क्रूरता के शोषण संभव नहीं हो सकता, रिश्वत लेना संभव नहीं हो सकता। सामाजिक व्यवहारों में यह क्रूरता मालिक-नौकर के संबंधों के बीच, सास-बहू के रिश्ते के बीच देखी जा सकती है। दहेज के नाम पर बहुओं को जलाने की घटनाएं क्रूरता का उत्कर्ष है।

मिथ्याभिमान (Vanity)

जिन व्यक्तियों में यह सोचने की अतिरंजित प्रवृत्ति होती है कि उनका अपना समूह अथवा जाति अन्य समूहों या जातियों से अत्यन्त श्रेष्ठ है, उन लोगों का सामान्य दृष्टिकोण रूढिवादी होता है। वे शक्ति की प्रशंसा व पराजितों से घृणा करते है। अर्थात् जो व्यक्ति स्वयं को उच्च मानते हैं वे युद्ध प्रिय होते हैं तथा हिंसा में उनका विश्वास होता है। राजनीतिज्ञों का यह मानना है कि चीन का भारत पर आक्रमण इसलिए नहीं हुआ था कि वे भूमि हड़पना चाहते थे, बल्कि चीन भारत को अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहता था।

इतिहासकार यहां तक कहते हैं कि योद्धाओं और विजेताओं के गुणगान ने ही सशस्त्र व प्रशिक्षित अपराधियों को पैदा किया है। कार्लिल व नीत्शे के हीरो-वरशिप के विचार ने न जाने कितने मिथ्याभिमान को जन्म दिया है। हिटलर अपनी सर्वशक्तिमान सेना के बावजूद भी पौलेण्ड व बेल्जियम में हार गया लेकिन उसके मिथ्याभिमान ने न जाने कितनों का खून बहाया।

कई व्यक्तियों व राष्ट्रों में वरिष्ठता की भावना भी होती है जिससे वे सोचते हैं—सम्पूर्ण सृष्टि उनके भोग के लिए है। उनके इस वरिष्ठता के विचार ने विश्व में जातिभेद, रंगभेद, उच्च-निम्न वर्ग आदि की दीवारें खड़ी की हैं। ब्रिटिश लोग यह कहा करते थे—हम एक महान् शक्ति रखते हैं, जहां सूर्य कभी अस्त नहीं होता, तब कमजोर राष्ट्र उनका आदर क्यों नहीं करे। उन राष्ट्रों को तो हमारा शुक्रिया अदा करना चाहिए कि हम उन्हें अच्छी सरकार देते हैं। नेपोलियन भी विश्व-व्यवस्था को अच्छा करने के मिथ्याभिमान के कारण ही विश्व पर चढ़ाई करता था। फिख्ते लिखते है—जर्मन विशिष्ट हैं क्योंकि उन्हीं के पास शुद्ध भाषा है और भाषा चरित्र के तुल्य है। इसलिए ऐसे व्यक्तियों को दूसरों पर शासन करना ही चाहिए। अतः स्पष्ट है कि किस तरह यह महद्भाव ग्रंथि तथा मिथ्याभिमान का संवेग मनुष्य को हिंसा और युद्ध की ओर धकेलता है।

असहिष्णुता (Intolerance)

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को सहन नहीं करना चाहता। एक धर्म दूसरे धर्म को सहन करना नहीं चाहता। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को सहन नहीं करना चाहता। परिणाम होता है संघर्ष—हिंसा—युद्ध। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच असहिष्णुता है जिससे पारिवारिक व सामाजिक कलह देखने को मिलती है। एक धर्म दूसरे धर्म के प्रति असहिष्णु है, परिणाम है साम्प्रदायिक हिंसा। साम्प्रदायिक कट्टरपन के कारण न जाने कितने युद्ध लड़े गये हैं, कितना खून बहा है। ईराक-ईरान का युद्ध धार्मिक असहिष्णुता का ही परिणाम था। भारत में वर्तमान साम्प्रदायिक अभिनिवेश भी असहिष्णुता का ही परिणाम है।

राष्ट्रों की असहिष्णुता तो जगजाहिर है। पूंजीवादी राष्ट्र समाजवादी राष्ट्रों को नहीं चाहता। एकतंत्र शासन पद्धति के लोग लोकतंत्र को नहीं चाहते। राष्ट्रों की इस असहिष्णुता ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एक लम्बे शीतयुद्ध को जन्म दिया था तथा इसी असहिष्णुता ने नाटो, सीटो व वार्सा जैसे सैनिक संगठनों को जन्म दिया था।

क्रोध (Anger)

व्यक्ति क्रोध के संवेग के कारण आक्रामक प्रवृत्ति को अपनाता है। क्रोध विवेकहीनता का कारण है। जिससे व्यक्ति हेय-उपादेय की दृष्टि को खो देता है तथा आक्रमण करना चाहता है। गीता में कहा गया है—क्रोध में व्यक्ति की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। उसे उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रहता है। वस्तुतः मनुष्य में उच्च गुण हैं किंतु क्रोध में व्यक्ति पाशविक वृत्ति को अपना लेता है। इस पाशविक वृत्ति के कारण व्यक्ति दूसरों को तो नुकसान पहुंचाता ही है, वह स्वयं को भी नुकसान पहुंचाता है। यह क्रोध का ही परिणाम है कि व्यक्ति आत्महत्या तक पहुंच जाता है।

इस प्रकार व्यक्ति के स्वयं के संवेग भय, लोभ, सत्ता व धन का मद आदि बातों पर युद्ध को पसन्द करने वाला स्वभाव निर्भर करता है। स्वार्थवृत्ति, आकांक्षाएं, घृणा, द्वेष आदि मानव स्वभाव में पशुता की जड़ें हैं। पर जीवन मात्र संघर्ष नहीं है, जीवन सहयोग है। 19वीं तथा 20वीं शदी अस्तित्व के लिए संघर्ष, प्रतिस्पर्धा, वर्ग-संघर्ष, विरोध आदि शब्दों में ही गुजर गई। इस शदी में सैनिक दिमाग वाले व्यक्तियों का प्रभुत्व रहा, जिन्होंने घृणा का, क्रूरता का सिद्धान्त दिया। पर 21वीं शदी अस्तित्व के लिए संघर्ष पसन्द नहीं करेगी, उसका विश्वास मानवीय सहयोग में होगा, जो दुःखद संवेदनों पर नियंत्रण से ही संभव हो पायेगा।

अहिंसा का सैद्धान्तिक आधार

अहिंसा क्या है ?

सभी प्रकार के जीवों के प्रति संयमपूर्वक जीवन-व्यवहार ही अहिंसा है। मन, वचन और काय—इनमें से किसी एक के द्वारा किसी प्रकार के जीवों की हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है। ऐसे जीवन का निरन्तर धारण ही अहिंसा है। कुछ दार्शनिक संयमपूर्वक जीवन-व्यवहार से तात्पर्य सभी प्रकार के जीवों के प्रति करुणाभाव से लेते हैं। गांधीजी ने भी अहिंसा का यही अर्थ लिया है। इनके अनुसार सर्व-जीवों के प्रति सद्भावना ही अहिंसा है या समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का पूर्ण तिरोभाव ही अहिंसा है।

निष्क्रिय और सक्रिय अहिंसा

अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है—हिंसा न करना। अहिंसा के पारिभाषिक अर्थ निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों हैं। राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना, प्राण-वध न करना या प्रवृत्ति मात्र का निषेध करना निषेधात्मक अहिंसा है। जबकि सत्-प्रवृत्ति और विधेयात्मक अहिंसा से हिंसा का निषेध भी होता है। हिंसा न करने वाला यदि आन्तरिक प्रवृत्तियों को शुद्ध न करे तो वह अहिंसा नहीं होगी। इसलिए निषेधात्मक अहिंसा में सत्यप्रवृत्ति की अपेक्षा रहती है और विधेयात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध भी रहता है। व्यवहार में निषेधात्मक अहिंसा को निष्क्रिय अहिंसा और विधेयात्मक अहिंसा को सक्रिय अहिंसा कहा जाता है।

अहिंसा के दो पक्ष हैं—

1. अहिंसा का सैद्धान्तिक पक्ष और
2. अहिंसा का व्यावहारिक पक्ष।

अहिंसा के सैद्धान्तिक पक्ष में अहिंसा के दार्शनिक सत्यों का अवबोध कराया जाता है जबकि अहिंसा के व्यावहारिक पक्ष में उपयोगिता प्रेरित या स्वार्थप्रेरित अहिंसा का समावेश होता है। यहां हमारा विवेच्य विषय है—अहिंसा का सैद्धान्तिक पक्ष क्यों ? जब तक अहिंसा का सैद्धान्तिक पक्ष मजबूत नहीं होता, व्यवहार डगमगा जाता है।

अहिंसा का सैद्धान्तिक स्वरूप

अहिंसा-प्रशिक्षण के स्वरूप का निर्धारण किया जाए तो उसके दो रूप हो सकते हैं—सैद्धान्तिक और प्रायोगिक। सैद्धान्तिक प्रशिक्षण में दार्शनिक सत्यों का अवबोध कराया जाता है। अहिंसा के दार्शनिक पहलू अनेक हैं। यहां कुछ ऐसे दार्शनिक बिन्दुओं का उल्लेख किया जा रहा है, जिनको समझे बिना अहिंसा के प्रशिक्षण का कोई आधार नहीं बनता। दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अहिंसा की मूल्यवत्ता प्रमाणित करने वाले पांच बिन्दु हैं—

1 आत्मा का अस्तित्व।
2. आत्मा की स्वतंत्रता।
3 आत्मा की समानता।
4. जीवन की सापेक्षता।
5. सह-अस्तित्व।

1. आत्मा का अस्तित्व

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकृत किये बिना अहिंसा का कोई आधार नहीं बनता। इसलिए "आत्मा है" इसकी स्वीकृति आवश्यक है। भौतिक अस्तित्व की प्रतिक्रिया ने मनुष्य को आत्मिक अस्तित्व की ओर गतिमान किया। उसे इस सत्य की प्राप्ति हुई कि चेतन का अस्तित्व अचेतन से स्वतंत्र है। इस विचार ने सामाजिक विकास के सामने आत्मिक विकास और राजतंत्र के सामने आत्म-तंत्र का प्रथम सूत्रपात किया। इस सूत्रपात ने अहिंसा का मूल्य परिवर्तन कर डाला। सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ था—मनुष्यों तथा मनुष्योपयोगी

पशु-पक्षियों को न मारना अर्थात् आंशिक अहिंसा थी। और न मारने का लक्ष्य था—सामाजिक सुव्यवस्था का निर्माण तथा स्थायित्व। जबकि आत्मिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ हुआ—हिंसा का पूर्ण निषेध—किसी प्राणी को न मारना, न मरवाना और मारने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना। अर्थात् जैसे-जैसे आत्मा, आत्मोदय और मुक्ति का दर्शन विकसित हुआ वैसे-वैसे अहिंसा व्यापक होती चली गई।

2. आत्मा की स्वतंत्रता

प्रत्येक आत्मा का सुख-दुःख अपना-अपना है। इस दृष्टि से आत्मा स्वतंत्र है। सभी आत्माएं स्वतंत्र हैं, इसलिए किसी भी प्राणी के हनन का अधिकार किसी को भी नहीं है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। इसलिए किसी भी प्राणी को कष्ट देने का अधिकार हमें नहीं है। जिस तरह से हमारा अस्तित्व स्वतंत्र है, उसी तरह से क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी का अस्तित्व भी स्वतंत्र है। अस्तित्व की दृष्टि से सभी स्वतंत्र हैं। इसलिए किसी की भी स्वतंत्रता का हनन करना हिंसा है। आत्मा की स्वतंत्रता को स्वीकार कर लेने से अहिंसा को व्यापकता मिलती है।

3. आत्मा की समानता

यद्यपि आत्मा अनन्त हैं, उनकी कर्मकृत अवस्थाएं भिन्न- भिन्न हैं किंतु स्वरूप की अपेक्षा से सब आत्माएं समान हैं। समानता का यह सिद्धान्त मनुष्य तक ही सीमित नहीं है। संसार में जितने प्राणी हैं, उन सबकी आत्मा समान है। सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय की वृत्ति प्राणी मात्र में समान होती है। अहिंसा की भावना को समझने और बलवान बनाने के लिए आत्मा की समानता का सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। भगवान् महावीर ने कहा—प्राणी मात्र को आत्म तुल्य समझो। "हे पुरुष! जिसे तू मारने की इच्छा करता है, जिस पर शासन करने की इच्छा करता है, जिसे अपने वश में करने का विचार करता है—वह तेरे जैसा ही प्राणी है।" आचारांग में कहा गया है—"जैसे मुझे कोई

बेंत, हड्डी, कंकर आदि से मारे, पीटे, ताड़ित करे, दुःख दे, व्याकुल और भयभीत करे, प्राणहरण करे तो मुझे दुःख होता है, ठीक उसी तरह सभी प्राणियों को भी होता है—यह सोचकर किसी भी प्राणी को नहीं मारना चाहिए, उन पर हुकूमत नहीं करनी चाहिए।" गांधी जी के अनुसार—जैसी अपेक्षा दूसरों से अपने लिए करते हो, वैसा की बर्ताव उनके प्रति तुम करो। आत्मौपम्य की यही सार्थकता है।

अस्तित्व, ज्ञान और वीर्य की सामर्थ्य की दृष्टि से सभी आत्माएं समान है। यदि इस समानता के सिद्धान्त को समझ लें तो—

✷ छोटे जीवों की बलि के द्वारा बड़े जीवों को बचाने की बात अहिंसा को मान्य नहीं हो सकती।

✷ मनुष्य को बचाने हेतु दूसरे जीवों की हिंसा अहिंसा को मान्य नहीं हो सकती।

✷ रंग, लिंग, जाति आदि के आधार पर अत्याचार अहिंसा के दृष्टि से मान्य नहीं हो सकते।

4. जीवन की सापेक्षता

कोई भी व्यक्ति या प्राणी निरपेक्ष रहकर अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता। इसी कारण जीवन को सापेक्ष माना गया है। सापेक्षता का यह सिद्धान्त प्रकृति के कण-कण में लागू होता है। कोई भी प्राणी तथा वस्तु एवं वस्तु व्यवस्था सापेक्षता की मर्यादा से बाहर नहीं है। शांति के पांच रूप—विश्वशांति, व्यक्ति की शांति, समाज की शांति, प्रकृति की शांति और संस्कृति की शांति—ये सभी परस्पर सापेक्ष हैं। एक की अशांति दूसरे की अशांति का कारण बन जाती है। इसलिए अहिंसा की अवधारणा को व्यापकता प्रदान करने की दृष्टि से जीवन की सापेक्षता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। निरपेक्ष को स्वीकार करने का अर्थ है—क्रूरता को, हिंसा को स्वीकार करना, इसलिए सभी प्राणियों की अपेक्षा करो। सापेक्षता से स्नेह बढ़ता है, निरपेक्षता खिंचाव लाती है। सापेक्षता है तो शोषण नहीं होगा, अपराध नहीं होगा, युद्ध और हिंसा नहीं होगी।

वर्तमान में जब हिंसा समग्र होती जा रही है, तब जीवन की सापेक्षता का मूल्य भी समझ में आ रहा है। प्रत्येक राष्ट्र को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए दूसरे राष्ट्रों के अस्तित्व की भी अपेक्षा है। यही कारण है कि आज विकसित व समृद्ध राष्ट्र अविकसित व जरूरतमंद राष्ट्रों को सहयोग करने के लिए तत्पर हो रहे हैं। जीवन की सापेक्षता को स्वीकार कर लिया जाए तो बहुसंख्यकों के लिए अल्पसंख्यकों तथा बड़ों के लिए छोटों का बलिदान उचित नहीं ठहराया जा सकता।

5. सह-अस्तित्व

मैं रहूंगा या वह रहेगा, अहिंसा की परिधि में इस चिंतन को स्थान नहीं मिल सकता। मैं भी रहूंगा, वह भी रहेगा—इस प्रकार सह-अस्तित्व की भाषा में सोचना अहिंसा का दर्शन है। "सब जीव समान है और मनुष्य जाति एक है"—सह-अस्तित्व को व्यापक रूप देने के लिए इस धारणा की व्यापक प्रतिष्ठा आवश्यक है।

आचार्य उमास्वामी का एक प्रसिद्ध सूक्त है—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्।" परस्परता की अनुभूति सह-अस्तित्व के संबंध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र है। प्रत्येक प्राणी में कुछ साम्य है और कुछ वैषम्य भी। केवल वैषम्य को प्रधान मान लेने से दूसरे को मिटाने की बात आएगी और केवल साम्य को प्रधान मान लेने से एकांतिक आग्रह ज़न्म लेगा। दोनों का परिणाम होगा—कलह। महावीर ने कहा—नित्य-अनित्य, सामान्य-असामान्य, वाच्य-अवाच्य, सत्-असत् जैसे विरोधी युगल का सह-अस्तित्व संभव है। यदि सह-अस्तित्व का विचार पुष्ट होता है तो दूसरे के स्वत्व का अपहरण मान्य नहीं हो सकता, वर्ग-विग्रह, अन्तर्राष्ट्रीय विग्रह को मान्यता नहीं मिल सकती।

अहिंसा के उपर्युक्त सैद्धान्तिक पक्ष को समझ लिया जाए तो अहिंसा को व्यापकता मिल सकती है और सैद्धान्तिक पक्ष को समझकर ही प्रायोगिक पृष्ठभूमि मजबूत की जा सकती है।

अहिंसा प्रशिक्षण का स्वरूप

प्रशिक्षण का आधार—

अहिंसा प्रशिक्षण का आधार है—हिंसा के बीजों को प्रसुप्त बनाकर अहिंसा के बीजों को अंकुरित करना। इसके लिए प्रशिक्षण आवश्यक है। अहिंसा प्रशिक्षण की प्रक्रिया के दो चरण हैं—

1 सैद्धान्तिक बोध

2 प्रायोगिक अभ्यास

अहिंसा के सैद्धान्तिक बोध के अंतर्गत हिंसा के कारण, परिणाम एवं उपाय का प्रशिक्षण समाविष्ट है जिससे व्यक्ति की अवधारणाओं में परिष्कार का अवसर मिले और उसके साथ-साथ प्रायोगिक प्रशिक्षण भी चले।

हिंसा की जड़

हिंसा के कारण बाहर परिवेश में भी हैं और अन्दर हमारी वृत्तियों में भी। कुछ कारण व्यक्ति में हैं, कुछ समाज में हैं। हिंसा का मूल कारण, उपादान व्यक्ति में है। उसको उद्दीप्त करने वाले निमित्त कारण परिवेश में, समाज में हैं।

आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक कारण हिंसा को प्रोत्साहन देते है। विषमता, बेरोजगारी, शोषण, दरिद्रता, अतिभाव, विलासिता आदि ऐसे आर्थिक कारण हैं, निमित्त हैं, जिनसे व्यक्ति में निहित उपादान को उत्तेजना मिलती है। जो हिंसा भड़काने में निमित्त बनते हैं।

हिंसा को भड़काने में सामाजिक विकृतियां, वर्णभेद, अस्पृश्यता, विषम परिस्थितियां, कुरूढियां, दासता आदि का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है।

राजनीति में सैद्धान्तिक आतंकवाद तथा व्यावसायिक आतंकवाद हिंसा की आग में घी डालने का काम करते हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता भी हिंसा भड़काती है। ये बाह्य कारण व्यक्ति के आन्तरिक कारणों को जगाते हैं। व्यक्ति के भीतर हिंसा के अनेक कारण हैं। उसमें मुख्य हैं—व्यक्ति की वृत्तियां। निषेधात्मक भाव, क्रूरता, भय, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार, लोभ आदि वृत्तियां हिंसा को जन्म देती हैं।

व्यक्ति में हिंसा का दूसरा कारण है—अपने मत का दुराग्रह एवं स्वयं को ही सही समझने की दृष्टि। अपने से भिन्न मत वाले को गलत समझने का दृष्टिकोण अन्ततः हिंसा को प्रोत्साहित करता है, हिंसा को पोषण देता है।

व्यक्ति की जीवन शैली का भी हिंसा से बहुत गहरा संबंध है। सुविधावादी, असंयमित, भोगप्रधान जीवन शैली हिंसा को उत्तेजित करती है।

हिंसा का निवारण

हिंसा और अहिंसा दोनों के बीज मनुष्य के भीतर हैं। ऐसी स्थिति में वातावरण पर ध्यान देना बहुत जरूरी है। क्योंकि वही सबसे पहले हमारे सामने आता है। भगवान् महावीर ने कहा—निमित्त और उपादान, परिस्थिति और अन्तर्जगत्, दोनों को तोड़कर मत देखो। कुछ लोग सारा भार परिस्थिति पर ही डाल देते हैं। परिस्थिति नहीं बदलेगी तो समस्या का समाधान नहीं होगा। दूसरी ओर जो अध्यात्मवादी लोग हैं, उनका मत है—अन्तर्जगत् में सुधार नहीं होगा, उपादान नहीं बदलेगा तो समस्या का समाधान नहीं होगा। ये दोनों ही एकांगी दृष्टिकोण है। निमित्त और उपादान—दोनों जुड़े हुए हैं। उपादान शक्तिशाली और निमित्त प्रतिकूल है तो उपादान कुछ नहीं कर पाएगा। जो घटित होता है इन दोनों के योग से होता है। समग्र परिवर्तन के लिए दोनों पर ध्यान देना अपेक्षित है।

अहिंसा-प्रशिक्षण के आयाम

जहां कुछ विद्वान् मानस-परिवर्तन, संरचनात्मक परिवर्तन, व्यक्तिवादी प्रशिक्षण एवं सामूहिक प्रशिक्षण को एकल रूप में रेखांकित करते है, वहीं कुछ महापुरुषों की अवधारणा एक समेकित प्रारूप के प्रस्तुतीकरण पर बल देती है। उनके द्वारा विकसित अहिंसा प्रशिक्षण की चतुरायामी अवधारणा मात्र व्यक्ति या मात्र समाज तक नहीं पहुंचती है पर दोनों को एक साथ समाहित करती है। समग्रता के इन चार आयामों में हृदय-परिवर्तन, दृष्टिकोण परिवर्तन, जीवनशैली परिवर्तन एवं तद्नुरूप संरचनात्मक परिवर्तन (व्यवस्था परिवर्तन) सम्मिलित हैं।

1. हृदय-परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण का प्रथम आयाम है—हृदय-परिवर्तन। हृदय-परिवर्तन का अर्थ है भाव-परिवर्तन। भावों का उद्‌गम स्थल है—मस्तिष्क का एक भाग, लिम्बिक संस्थान। अत· इसे मस्तिष्कीय प्रशिक्षण कहा गया है। हृदय परिवर्तन का पहला सूत्र है—निषेधात्मक भावों के परिवर्तन का प्रशिक्षण। निषेधात्मक भावों का उद्दीपन हमारे शारीरिक अस्वास्थ्य के कारण भी होता है। अत. हृदय-परिवर्तन का दूसरा सूत्र है—शारीरिक स्वास्थ्य में मिताहार का प्रशिक्षण। निषेधात्मक भावों (संवेगों) के परिवर्तन के लिए निम्ननिर्दिष्ट सिद्धान्त-सूत्रों का प्रशिक्षण आवश्यक है—

हिंसा के हेतु	परिणाम
1. लोभ	अधिकार की मनोवृत्ति
2 भय	शस्त्र निर्माण और शस्त्र प्रयोग
3 वैर-विरोध	प्रतिरोध की मनोवृत्ति
4 क्रोध	कलहपूर्ण सामुदायिक जीवन
5 अहंकार	घृणा, जातिभेद के कारण छूआछूत
6 क्रूरता	शोषण, हत्या
7 असहिष्णुता	साम्प्रदायिक झगड़ा

ये संवेग (निषेधात्मक भाव) व्यक्ति को हिंसक बनाते हैं। हृदय-परिवर्तन का तात्पर्य है संवेगों का परिष्कार करना, इनके स्थान पर नए संस्कार-बीजों का वपन करना।

सैद्धान्तिक प्रशिक्षण के सूत्र

1. लोभ का अनुदय	शरीर और पदार्थ के प्रति अमूर्च्छा भाव का प्रशिक्षण।
2. भय का अनुदय	अभय का प्रशिक्षण (आत्मौपम्य भाव का प्रशिक्षण)। शस्त्र निर्माण और शस्त्र व्यवसाय न करने की संकल्प-शक्ति का प्रशिक्षण।
3. वैर-विरोध का अनुदय	मैत्री का प्रशिक्षण। प्रतिशोधात्मक मनोवृत्ति से बचने का प्रशिक्षण।
4. क्रोध का अनुदय	क्षमा का प्रशिक्षण।
5..अहंकार का अनुदय	विनम्रता का प्रशिक्षण, अहिंसक प्रतिरोध एवं अन्याय के प्रति असहयोग का प्रशिक्षण।
6 क्रूरता का अनुदय	करुणा का प्रशिक्षण।
7 असहिष्णुता का अनुदय	साम्प्रदायिक सद्‌भाव का प्रशिक्षण, भिन्न विचारों को सहने का प्रशिक्षण।

शरीर क्रिया मनोविज्ञान के अनुसार आचार और व्यवहार हमारे भावों (संवेगों) द्वारा नियमित होते है। हमारे भावों का नियमन रसायनों द्वारा होता है। ये रसायन अन्तःस्रावी ग्रंथि-तंत्र द्वारा स्रावित होते है। उनका संचालन लिम्बिक-संस्थान (भाव-संस्थान) द्वारा होता है। ध्यान एवं अनुप्रेक्षा के प्रयोगों द्वारा इन रसायनों को प्रभावित कर संतुलित किया जा सकता है। इससे भावधारा, आचरण और व्यवहार में परिवर्तन घटित होता है।

अहिंसा के विकास के लिए निम्न निर्दिष्ट अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास आवश्यक है—

प्रायोगिक प्रशिक्षण के अभ्यास सूत्र

1 लोभ का अनुदय	अनासक्ति की अनुप्रेक्षा
2. भय का अनुदय	अभय की अनुप्रेक्षा
3. वैर-विरोध का अनुदय	मैत्री की अनुप्रेक्षा
4. क्रोध का अनुदय	शांति की अनुप्रेक्षा
5 अहंकार का अनुदय	मृदुता की अनुप्रेक्षा
6. क्रूरता का अनुदय	करुणा की अनुप्रेक्षा
7. असहिष्णुता का अनुदय	सहिष्णुता की अनुप्रेक्षा

भावात्मक परिवर्तन के लिए अनुप्रेक्षा के प्रयोग बहुत सफल रहे हैं। इस प्रयोग में मस्तिष्क और पूरे शरीर को शिथिल कर सुझाव दिये जाते हैं, साथ-साथ रंगों का ध्यान भी किया जाता है। ध्वनि और रंग—ये दोनों अचेतन या अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं। इनसे पुराने संस्कारों और अर्जित आदतों का क्षय हो जाता है। नए संस्कारों और नई आदतों के निर्माण की भूमि प्रशस्त हो जाती है। ये प्रयोग संकल्प-शक्ति, आत्म-विश्वास और आत्म-निरीक्षण की क्षमता को बढ़ाते हैं।

स्वास्थ्य और मिताहार का प्रशिक्षण

हृदय-परिवर्तन का दूसरा सूत्र है—स्वास्थ्य और मिताहार का प्रशिक्षण। शारीरिक स्वास्थ्य और अहिंसा में भी आंतरिक संबंध है। शारीरिक स्वास्थ्य के अभाव में हिंसा का भाव उपजता है। अतः यह अहिंसा के प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

प्रायोगिक प्रशिक्षण

प्रायोगिक प्रशिक्षण के अंतर्गत योगासन और प्राणायाम का अभ्यास अहिंसा प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

2. दृष्टिकोण परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण का द्वितीय आयाम है—दृष्टिकोण परिवर्तन। गलत दृष्टिकोण के कारण मिथ्या धारणाएं, निरपेक्ष चिंतन और एकांगी आग्रह पनपते है। मिथ्या धारणाएं, निरपेक्ष चिंतन और एकांगी आग्रह हिंसा के मुख्य कारणों में है। जबकि सापेक्ष चिंतन सामाजिक संबंधों की भूमिका में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सापेक्ष चिंतन होता है तो फिर स्वार्थ की सीमा निश्चित हो जाती है। यह नहीं हो सकता कि समाज के बीस प्रतिशत व्यक्ति अतिभाव में जीएं और अस्सी प्रतिशत व्यक्ति भूखे मरते रहें। मानवीय संबंधों में जो कटुता दिखाई दे रही है उसका हेतु निरपेक्ष दृष्टिकोण है। संकीर्ण राष्ट्रवाद और युद्ध भी निरपेक्ष दृष्टिकोण के परिणाम हैं। सापेक्षता के आधार पर संबंधों को व्यापक आयाम दिया जा सकता है। मनुष्य, पदार्थ, वृत्ति, विचार और शरीर के साथ संबंध का विवेक करना अहिंसा के विकास के लिए बहुत आवश्यक है। मनुष्यों के प्रति क्रूरतापूर्ण, पदार्थ के प्रति आसक्तिपूर्ण, विचारों के प्रति आग्रहपूर्ण, वृत्तियों के साथ असंयत, शरीर के साथ मूर्च्छापूर्ण संबंध है तो हिंसा अवश्यंभावी है।

अनेकान्त का प्रशिक्षण मिथ्याधारणा, निरपेक्ष चिंतन और आग्रह से मुक्त होने का प्रयोग है। परिवर्तन केवल जानने से नहीं होता। इसके लिए दीर्घकालिक अभ्यास आपेक्षित है। सर्वांगीण दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए निम्न निर्दिष्ट अनेकान्त के सिद्धान्त और प्रायोगिक अभ्यास-अनुप्रेक्षाओं का प्रशिक्षण आवश्यक है—

सिद्धान्त	प्रयोग
1 सप्रतिपक्ष	सामंजस्य की अनुप्रेक्षा
2 सह-अस्तित्व	सह-अस्तित्व की अनुप्रेक्षा
3 स्वतंत्रता	स्वतंत्रता की अनुप्रेक्षा
4 सापेक्षता	सापेक्ष की अनुप्रेक्षा
5 समन्वय	समन्वय की अनुप्रेक्षा

3. जीवन शैली परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण का तीसरा आयाम है—जीवन शैली का परिवर्तन। जीवन शैली परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—सुविधावादी जीवन शैली में परिवर्तन। हम प्रदुषण से चिंतित हैं, त्रस्त है। सुविधावादी जीवन शैली प्रदूषण पैदा कर रही है। उस पर हमारा ध्यान ही नहीं जा रहा है। समाज सुविधा छोड़ नहीं सकता किंतु वह असीम न हो—यह विवेक आवश्यक है। यदि सुविधाओं का विस्तार निरन्तर जारी रहे, आडम्बर और विलासपूर्ण जीवन चलता रहे तो अहिंसा का स्वप्न यथार्थ में परिणत नहीं होगा। इच्छाओं की वृद्धि से हिंसा को पल्लवन मिला है। जब तक इच्छा का संयम नहीं होगा, जीवन शैली में संयम को प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी, तब तक अहिंसा का सार्थक परिणाम नहीं आ सकेगा। जीवन शैली परिवर्तन के लिए संयम, श्रम, स्ववालम्बन और व्यसन-मुक्त जीवन का सैद्धान्तिक और प्रायोगिक प्रशिक्षण अपेक्षित है। निम्नलिखित प्रायोगिक अभ्यास अहिंसा प्रशिक्षण में समाविष्ट हैं—

1. अहिंसा की अनुप्रेक्षा
2. सत्य-अचौर्य की अनुप्रेक्षा
3. ब्रह्मचर्य की अनुप्रेक्षा
4. इच्छा-परिणाम/अपरिग्रह की अनुप्रेक्षा
5 स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा
6. व्यसन मुक्ति के प्रयोग।

4. व्यवस्था परिवर्तन

अहिंसा प्रशिक्षण का चतुर्थ आयाम है—व्यवस्था परिवर्तन। व्यक्ति के आन्तरिक रूपान्तरण के साथ-साथ व्यवस्थागत परिवर्तन भी आवश्यक है। व्यवस्थाओं के मुख्य तीन पहलू हैं—आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक व्यवस्था तथा राजनैतिक व्यवस्था।

आर्थिक व्यवस्था—अर्थ की प्रकृति में ही हिंसा है, अतः अर्थशास्त्र एवं आर्थिक व्यवस्था को पूर्णतः अहिंसक नहीं बनाया जा सकता; परन्तु इससे अपराध, क्रूरता, शोषण और विलासिता को अवश्य समाप्त किया जा सकता है।

विकास की मात्र भौतिक अवधारणा का विकल्प अहिंसक व्यवस्था से ही संभव है। अहिंसक व्यवस्था में साधन-शुद्धि, व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा, उपभोग की सीमा, अर्जन के साथ विसर्जन तथा विलासिता की सामग्री के उत्पादन और आयात पर रोक की व्यवस्था का ईमानदारी के साथ व्यक्ति तथा सरकार दोनों को पालन करना होगा। इसके साथ-साथ अहिंसक तकनीक की खोज, अहिसंक तरीकों से कलह शमन सहकार का अर्थशास्त्र तथा स्वदेशी को आवश्यक स्थान देना होगा।

सामाजिक व्यवस्था—अहिंसक आर्थिक व्यवस्था के अन्दर ही अहिंसक समाज-व्यवस्था का स्वरूप छिपा होता है। जिस समाज में आर्थिक शोषण होता है वह समाज अहिंसक नहीं है। अहिंसक समाज का आधार अशोषण है। अशोषण के लिए श्रम तथा स्वावलम्बन की चेतना और व्यवस्था का विकास, व्यवसाय में प्रामाणिकता तथा क्रूरता का वर्जन अनिवार्य है।

समाज में अनेक प्रकार की हिंसा होती है। अहिंसक समाज में कुछ विशेष प्रकार की हिंसा का सर्वथा वर्जन हो। उदाहरणार्थ—आक्रामक हिंसा, निरपराध व्यक्तियों की हत्या, भ्रूण हत्या, जातीय-घृणा, छुआछूत आदि का व्यवस्थागत निषेध हो। इनको महिमा मंडित करने वाले पत्र व मीडिया पर भी नियंत्रण हो। साम्प्रदायिक अभिनिवेश, मादक वस्तुओं का सेवन तथा प्रत्यक्ष हिंसा को जन्म देने वाली रूढियों और कुरीतियों का वर्जन भी आवश्यक है। नई समाज व्यवस्था के अंतर्गत वैल्पिक चिकित्सा पद्धति का भी विकास करना चाहिए।

राजनैतिक व्यवस्था—अहिंसक राजनैतिक व्यवस्था का स्वरूप क्या हो ? स्वच्छ राजनीति वह है जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन नहीं होता। जहां व्यक्ति और राष्ट्र का संबंध मात्र यांत्रिक नहीं होता,

व्यक्ति की स्वतंत्रता का मूल्यांकन किया जाता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता आत्मानुशासित होती है। ऐसी स्वतंत्रता व्यक्तिगत विशेषताओं का संरक्षण है जो राष्ट्र की समृद्धि की आवश्यक शर्त है।

अहिंसक राजनीति की दूसरी विशेषता है, व्यक्ति निर्माण की दिशा में ठोस कार्यक्रम लागू करता है। केवल हिंसा की रोकथाम करना और विधि-व्यवस्था कायम रखना राजनीति का काम नहीं है। जीवन्त राजनीति का लक्ष्य है—व्यक्ति का हित और मानव कल्याण। विकेन्द्रित राजनैतिक व्यवस्था हो ताकि दलगत राजनीति को अवसर न मिले। वर्तमान राजनीति में राजनीतिज्ञों के प्रशिक्षण के लिए कोई व्यवस्था नहीं है। परिणामस्वरूप गुणवत्ता के स्थान पर सिर्फ संख्या इसका आधार रह गया है। व्यवस्था परिवर्तन के लिए संगठनात्मक प्रशिक्षण की आवश्यकता है, जिसमें अनुसंधान, योजना, कार्य के लिए तैयार होना, प्रचार, कार्य का प्रारंभ, नेतृत्व आदि संगठन के विभिन्न पहलुओं के लिए प्रशिक्षण प्राप्त करना आवश्यक है।

मस्तिष्क परिवर्तन के सूत्र

मस्तिष्क परिवर्तन की आवश्यकता क्यों ?

आज विज्ञान और मनोविज्ञान द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि मानवीय संवेग हिंसा या युद्ध के लिए जिम्मेदार है। इन संवेगों के कारण प्राणी के अन्य सभी व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। संवेगों की इस विशेषता के कारण मनोवैज्ञानिक संवेगों को एक विध्वंसात्मक शक्ति के रूप में भी स्वीकार करते हैं। व्यक्ति पदार्थ की आसक्ति के कारण अपनी आवश्यकताओं से विलासिताओं की ओर बढ़ने लगता है तो हिंसा अवश्यंभावी हो जाती है। भय का संवेग व्यक्ति में असुरक्षा की भावना पैदा करता है और इस असुरक्षा की भावना के कारण वह आक्रामक हो जाता है, अस्त्र-शस्त्र जुटाता है। क्रूरता का संवेग व्यक्ति को पेशेवर हत्यारे के रूप में बदल देता है। शत्रुता का भाव व्यक्ति में अविश्वास पैदा करता है, जिससे वह स्वयं को सदैव असुरक्षित पाता है। अतः स्पष्टतः मानव मस्तिष्क के ये संवेग हिंसा या युद्धों के जिम्मेदार हैं। जब तक मनुष्य के इन संवेगों को नियंत्रित नहीं किया जाता, इन निषेधात्मक भावों की जगह विधेयात्मक भावों को स्थापित नहीं किया जाता, तब तक अहिंसा या शांति की बात फलित नहीं हो सकती। इसलिए मानव मस्तिष्क के परिवर्तन की आवश्यकता है।

परिवर्तन का साधन अनुप्रेक्षा व भावनाएं

मन की मूर्च्छा तोड़ने वाले विषयों का अनुचिंतन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विषय का अनुचिंतन बार-बार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का अभ्यास बार-बार किया जाता है, उससे मन प्रभावित होता है, इसलिए उस अनुचिन्तन या अभ्यास को भावना कहते हैं। मनुष्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है उसी

रूप में उसका संस्कार निर्मित हो जाता है। प्राचीन आगमों में "भावितात्मा" शब्द का प्रयोग हुआ है। भावितात्मा होने के पश्चात् व्यक्ति जो होना चाहता है, वह होकर रहता है। यह सारा एकाग्रता का चमत्कार है। हम जो होना चाहते हैं, हो जाते हैं। अर्थात् जिस रूप में मन को बदलना चाहते हैं, बदल लेते हैं। स्वसम्मोहन का प्रयोग, ऑटोसजेशन का प्रयोग—ये सब भावना के द्वारा सम्मोहित होने के ही प्रयोग हैं। पहले शरीर को देखना फिर संकल्प और भावना के प्रयोग द्वारा बदलने की भावना को अवचेतन तक पहुंचा देना—यही है रूपान्तरण की प्रक्रिया, मस्तिष्क को बदलने की प्रक्रिया।

भावना का आज की भाषा में अर्थ है—ब्रेनवाशिंग अर्थात् पुराने विचारों की जगह नये विचारों को जन्म देना। ब्रेनवाशिंग हेतु स्वतःसूचन (Auto Suggestion) की पद्धति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सुझाव के द्वारा हमारी चेतना बदलना शुरू कर देती है तथा चेतना में परिवर्तन होने से आदतें बदली जा सकती है, संवेग बदले जा सकते है। एक ही बात को जब हम बार-बार दोहराते है, उस भावना की बार-बार आवृत्तियां करने से तरंगें पैदा होती हैं जो पुराने संस्कारों को उखाड़ देती हैं तथा नये संस्कारों का सृजन हो जाता है।

भावना का वैज्ञानिक स्वरूप

भावना का अर्थ मात्र सोचना नहीं है। इसका अर्थ है हमारे ज्ञानतंतुओं को, हमारी कोशिकाओं को अपने वशवर्ती कर लेना, उन पर अपनी भावनाओं को अंकित कर देना। हमारे मस्तिष्क में खरबों न्युट्रान है। ये न्यूट्रान ही नियामक है। भावना के द्वारा जो संकल्प न्यूट्रान तक पहुंच जाता है वह संकल्प सफल हो जाता है। मन की शक्ति के जागरण में इन ज्ञानतंतुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मुख्य भावनाएं या अनुप्रेक्षाएं

मस्तिष्क परिवर्तन के लिए अनासक्ति, अभय, मैत्री, क्षमा, मृदुता और करुणा की भावनाएं महत्त्वपूर्ण है। पदार्थों के प्रति आसक्ति व्यक्ति

को लालची बनाती है तथा व्यक्ति के प्रति आसक्ति राग-द्वेष का कारण बनती है—ये दोनों ही हिंसा के कारण हैं इसलिए अनासक्ति की भावना महत्त्वपूर्ण है। भय के संवेग को दूर करने के लिए अभय की भावना, आक्रामक व्यवहार को खत्म करने के लिए मृदुता की भावना एवं क्रूरता के संवेग को मिटाने के लिए करुणा की भावना महत्त्वपूर्ण है।

अनासक्ति

इन्द्रियों के विषय क्षणिक सुख देने वाले हैं, पर इनके भोग का परिणाम अन्ततः दुःखद होता है। व्यक्ति परिणाम को जानते हुए भी इन्द्रियों के विषयों के प्रति आसक्त रहता है। महाभारत में कहा गया है—व्यक्ति धर्म को जानते हैं फिर भी उसमें प्रवृत्ति नहीं करते, अधर्म को भी जानते हैं लेकिन वह छोड़ा नहीं जाता। क्यों? क्योंकि व्यक्ति मोहग्रस्त है, आसक्त है।

आवश्यकता पूर्ति हेतु पदार्थों के प्रति आकर्षण सहज है पर पदार्थों के प्रति आसक्ति असहज है। आसक्ति आवश्यकता नहीं है, व्यामोह है। शांति का अनुभव कर चुका व्यक्ति कभी भी आसक्त नहीं होगा। स्थूलिभद्र वेश्या के घर पर रहते हुए भी अनासक्त रहे, पथभ्रष्ट नहीं हुए जबकि विश्वामित्र, पराशर आदि ऋषि पत्ते खाते हुए जंगल में रहे लेकिन वे पथच्युत हो आसक्त हो गये।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में दुःख आता है, आपदाएं आती हैं, प्रकोप आते है, कोई उन्हें रोक नहीं पाता। लेकिन इनसे होने वाले दुःखद संवेदनों से स्वयं को बचाया जा सकता है। घटनाएं घटेंगी पर व्यक्ति इनके साथ नहीं जुड़ेगा। घटना का ज्ञान व्यक्ति को होगा वह अवचेतन तक नहीं पहुंचेगी। व्यक्ति यह सोचेगा कि मै दुःख भोगने के लिए नहीं जन्मा हूं, इस चिंतन से पदार्थों से होने वाले संवेदन स्वतः ही समाप्त हो जायेंगे। यही है—अनासक्त योग। अनासक्ति का अर्थ है—पदार्थ के साथ जुडी चेतना का छूट जाना।

सामान्यतः हर व्यक्ति प्रिय-अप्रिय संवेदनों में जीता है। जब तक प्रियता-अप्रियता, राग-द्वेष या आसक्ति का आवरण नहीं हटेगा दर्शन संभव नहीं होगा। इसलिए अनासक्ति भाव से देखें, तटस्थता से देखें। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है—मैं उदासीन की भांति आसीन हूं, कर्मों में अनासक्त हूं। इसलिए वे मुझे नहीं बांधते। अतः संवेदना व्यक्ति का मूल स्वभाव नहीं है, ज्ञाता-द्रष्टा भाव का विकास ही उसका लक्ष्य है।

अभय

भय की भावना को निरस्त करने के लिए अभय की भावना का विकास आवश्यक है। आज प्रायः हर व्यक्ति भयाक्रान्त है। क्योंकि सर्वत्र प्रमाद है, असत्य है, विस्मृतियां हैं। भगवान् महावीर ने कहा है—प्रमादी को सब तरफ से भय होता है, अप्रमादी भयमुक्त है। प्रमाद इसलिए है क्योंकि केवल बुद्धि का जागरण है, प्रज्ञा सोई हुई है। बुद्धि भय को मिटा नहीं सकती बल्कि भय को और अधिक सूक्ष्मता से पकड लेती है। इसलिए प्रज्ञाविहीन व्यक्ति में बुद्धि जितनी प्रखर होगी उतना ही अधिक भय होगा। उदाहरणत· सामान्य व्यक्ति कम भयभीत है पर एक पढ़े-लिखे व्यक्ति एवं वैज्ञानिक आदि के सामने अनेकों संकट हैं। उनके सामने उर्जा का संकट है, आबादी का संकट है, पर्यावरण का संकट है, परमाणु अस्त्रों का संकट है, जबकि सामान्य व्यक्ति इन भयों से परे है। भयभीत व्यक्ति सुरक्षा की कोशिशें करता है। विकसित राष्ट्र भयभीत है कि एक दिन उनका विकास ही उन्हें न लील जाये। अविकसित राष्ट्र इसलिए भयभीत है कि उनकी गरीबी उन्हें युद्धों की ओर धकेल रही है। समृद्ध को धनरक्षा का भय है, गरीब पेट की आग से भयभीत है।

भय-अभय का वैज्ञानिक आधार

भय के कारण अनुकम्पी नाडी तंत्र प्रभावित होता है, जिसका परिणाम है उत्तेजना। जबकि अभय से परानुकम्पी नाडी तंत्र सक्रिय

होता है जिसका परिणाम है शांति, सुख का अनुभव। व्यक्ति के जैसे भाव होते है उसकी मुद्रा भी उसी तरह की हो जाती है। भय से व्यक्ति की एड्रिनल ग्रंथि सक्रिय होती है और उसके स्राव व्यक्ति को आक्रामक बना देते हैं।

अभय.कैसे बनें

अभय बनने के लिए अभय की भावधारा विकसित करनी होगी जिसका सशक्त साधन है—अभय की अनुप्रेक्षा। अभय की अनुप्रेक्षा द्वारा अभय की तरंगें उत्पन्न होती है जो भय की तरंगों को निरस्त करती है। गेल्वेनोमीटर द्वारा व्यक्ति के असत्य को भय की तरंगों द्वारा ही पकडा जाता है।

अभय के लिए सर्वप्रथम शरीर के भय्र से मुक्ति आवश्यक है। शरीर के प्रति ममत्व भय का प्रमुख कारण है। शरीर के प्रति ममत्व का विसर्जन अभय का द्वार है। जितनी सहिष्णुता सधती है उतना ही अभय का विकास होता चला जाता है।

अभय और अहिंसा

कायर व्यक्ति कभी भी अहिंसक नहीं बन सकता। कायरता व्यक्ति की मानसिक कमजोरी है जो हिंसा को बढ़ावा देती है। निर्भयता अहिंसा का प्राण है। अभय व्यक्ति ही अहिंसा का पालन कर सकता है।

मृदुता

मान के संवेग को नष्ट करने के लिए मृदुता का अभ्यास जरूरी है। मृदुता (कोमलता) सामूहिक जीवन की सफलता का सूत्र है। मृदु स्वभाव में लोच होती है जिससे इस स्वभाव का व्यक्ति किसी भी वातावरण को अपने अनुकूल बना लेता है। वह न केवल अपने जीवन को बल्कि आसपास के वातावरण को भी सरस बना देता है। जो कार्य कठोर अनुशासन से नहीं होते, मृदुता से सहज ही हो जाते है।

मनुष्य की तीन बड़ी दुर्बलताएं हैं—क्रूरता, विषमता एवं स्वयं को हानि पहुंचाने की वृत्ति। इनमें क्रूरता का पहला स्थान है। क्रूरता के कारण ही शोषण, मिलावट, पशुवध, वनों की कटाई, दहेज हत्याएं, आदि अनेक आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक अपराध होते हैं। वर्तमान की अधिकांश समस्याएं व विरोधाभास क्रूरता के कारण हैं। व्यवहार परिवर्तन या परिष्कार का अर्थ है—व्यवहार में क्रूरता की जगह कोमलता मृदुता का विकास। यही प्रशस्त जीवन है।

मैत्री

विश्वबंधुत्व का पहला सूत्र है मैत्री। ईसा ने कहा—शत्रु के साथ भी मैत्री करो। महावीर ने कहा—किसी को शत्रु मानो ही मत। यद्यपि व्यक्ति-व्यक्ति में भेद है। उनमें रूचि, चिन्तन, व्यवहार, व्यवस्था, रहन-सहन, खान-पान आदि में भेद है, लेकिन इन भेदों के कारण शत्रुता पनपे, यह अवांछनीय है। भगवान् महावीर ने कहा—दूसरों के साथ बुरा व्यवहार करने से स्वयं तुम्हारा ही अनिष्ट होता है। मैत्री की भावना से कभी कोई किसी का अनिष्ट नहीं करता। मैत्री भाव का साधक स्वयं को कष्ट में डाल देगा पर दूसरों को कष्ट नहीं दे सकता।

मानवीय संबंधों की पहली कठिनाई—शत्रुता है। शत्रुता का कारण दोषारोपण है। हम दूसरों से द्वेष ही नहीं रखते अपितु स्वयं के कर्त्तव्य को भुलाकर दूसरों में दोष देखते है। व्यक्ति दूसरों के भय के कारण उनसे शत्रुता रखता है जबकि अभय से मैत्री फलित होती है। "मेरा सबके साथ मैत्री भाव है, कोई मेरा शत्रु नहीं है"—जैसे-जैसे यह भाव विकसित होता है सर्वत्र प्रसन्नता व्याप्त हो जाती है। मैत्री का सम्पूर्ण अर्थ केवल प्रेम ही नहीं है, अपितु सबके अस्तित्व को स्वीकार करना है। जो है, जैसा है, उसे वैसे ही स्वीकार करना, सत्यान्वेषी बनना है। मैत्री का विराट् रूप जब सामने आता है तो द्वेष रहता ही नहीं है। सभी प्राणियों को अपने समान समझने का भाव जागृत हो जाता है।

मानवीय संबंधों की दूसरी कठिनाई कठोरता है। हमें छोटों के साथ कठोर व्यवहार करना चाहिए—इस धारणा ने सामाजिक संपर्क व संबंधों में दरार पैदा कर दी है। हम यह भूल गए हैं कि मैत्री भाव के द्वारा आदमी को जितना प्रेरित किया जा सकता है उतना कठोरता से नहीं किया जा सकता। सद्भावना से तो पेड़-पौधे भी जल्दी विकसित होते हैं। इसलिए जीवन को सफल बनाने के लिए उसमें सौरभ व सरसता भरनी चाहिए।

करुणा

दूसरों के दु:खों को दूर करने की इच्छा करुणा है। मानव स्वभाव की ऐसी इच्छाओं को हटाना आवश्यक है जो दूसरों के लिए तथा अपनी खुशी के लिए हानिकारक है। करुणा इस चिन्तन का परिणाम है कि प्राणी कैसे दुखी है। दुःखी, पीड़ित और त्रस्त व्यक्ति को देखकर जो करुणा का भाव जाग्रत होता है, वह यह सूचना देता है कि आपका चित्त कोमलता, मृदुता और प्रेम से शून्य नहीं है।

करुणा का संबंध संवेदनशीलता से है। व्यक्ति में जितनी संवेदनशीलता है उतना ही करुणा का विकास होगा। व्यक्ति में जितनी असंवेदनशीलता होगी, उतना ही वह क्रूर होगा। क्रूरता का कारण है—लोभ, संग्रहवृत्ति, अमानवीय दृष्टिकोण आदि। क्रूरता का निदान है—मानवीय दृष्टिकोण का निर्माण, आत्मौपम्य दृष्टि तथा प्रत्येक प्राणी को अपने समान समझने का दृष्टिकोण।

आजकल क्रूर व्यवहार को बड़प्पन समझा जाने लगा है। सत्ता और शक्ति के मद में व्यक्ति छोटों के साथ क्रूर व्यवहार कर बड़प्पन समझता है। इसी कारण रिश्वत व भ्रष्टाचार जैसी क्रूरताएं पनपती है। जब सत्ता और शक्ति का दुरुपयोग बन्द हो जाए, तब यह समझना चाहिए कि मानवीय दृष्टिकोण का विकास हुआ है और मानवीय दृष्टिकोण के निर्माण से ही छोटों के प्रति क्रूरता खत्म हो सकेगी। जब करुणा की ज्योति जलती है तब अन्याय मिट जाते है। इसलिए सामाजिक और आर्थिक स्वास्थ्य का मूल सूत्र है—करुणा।

करुणा का यह सिद्धान्त शासकों के प्रति भी इसी तरह लागू होता है। यदि शासक दयालु और कृपालु नहीं है तो यह नैतिकता के प्रति हिंसा है। यह एक सामाजिक सच्चाई है कि जो सौभाग्यशाली हैं, समृद्ध हैं, शिक्षित है, वे असहायों के प्रति करुणा रखें। कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त भी इसी परोपकारिता के दर्शन पर अवलंबित है। बुद्ध का जब निर्वाण हुआ तो वे निर्वाण के द्वार पर रूक गये और कहा—"जब तक सब प्राणियों का दु:ख दूर नहीं होगा, तब तक मै कैसे भीतर जाऊं," यह है जागतिक करुणा का प्रयोग। जिसका सम्पूर्ण जगत् मित्र है, उसकी करुणा भी जागतिक हो जाती है। बुद्ध के अनुसार विद्या और आचरण के मेल से ही बोधि प्राप्त होती है। मस्तिष्कीय गुणों का विकास विद्या है यह व्यक्ति का बौद्धिक पक्ष है जबकि करुणा आचरण है जो व्यक्ति का भावात्मक पक्ष है, जिसका संबंध व्यक्ति के हृदय से है। जिस व्यक्ति के हृदय में अत्यधिक क्रूरता है, करुणा भावना का प्रयोग उसकी अभिवृत्ति को बदल सकता है।

विधायक चिंतन

विधायक चिंतन के बिना व्यक्ति सच्चाई के पास नहीं पहुंच सकता। निषेधात्मक दृष्टिकोण का व्यक्ति हर सच्चाई को नकारता जाता है जिसका परिणाम होता है—निराशा, अनुत्साह, आवेग, कार्य से निवृत्ति व हिंसा। विधायक चिंतन वाला व्यक्ति सच्चाई के पास पहुंच जाता है जिसका परिणाम होता है—जीवन में सफलता व शांति।

व्यक्ति के चिंतन के दो पक्ष होते है—1 समग्रता की दृष्टि और 2 व्यग्रता की दृष्टि। व्यग्रता का दृष्टिकोण एकाकी आग्रह है। व्यक्ति अपने ही आग्रह पर अडा रहता है। उसे अपने सिवाय हर व्यक्ति के विचार मिथ्या लगते है। इसलिए समग्रता के दृष्टिकोण के बिना उस व्यक्ति का हर निर्णय अपूर्ण होगा, आग्रही होगा। आग्रह विवादों को जन्म देता है। समग्र दृष्टिकोण में विवाद की संभावना नहीं होगी क्योंकि उसके पास अनेकांतिक दृष्टि है जिससे वह दूसरों के विचारों की सच्चाई को भी समझ सकता है।

विधायक चिंतन का दूसरा कोण है अनावेश। आवेश की स्थिति निषेधात्मक चिंतन की स्थिति है जिससे व्यक्ति को कई सामाजिक, आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। जबकि अनावेश की स्थिति स्वस्थ और तथ्यों पर आधारित होती है। प्रश्न है—हम क्रोध व अहंकार पर नियंत्रण कैसे करें? जब तक व्यक्ति में संबंध और विसंबंध की चेतना जागृत नहीं होगी तब तक अनावेश की स्थिति घटित नहीं होगी।

विधायक चिंतन का तीसरा कोण है—असंशय। संशयशील चिंतन संभावनाओं को नकारता है, जिससे उसका दृष्टिकोण आग्रही व रूढ़िवादी बन जाता है, वह सच्चाई को नहीं जान पाता। असंशय की स्थिति का अर्थ है संभावनाओं का स्वीकार। अपने पुरुषार्थ, अपनी क्षमताओं व अपने कृतित्व पर विश्वास। इससे व्यक्ति सच्चाई के रास्ते सदैव खुले रखता है और कहीं भी संघर्ष की संभावना नहीं रहती।

विधायक चिंतन का चौथा कोण है—विरोधाभासों में संगति ढूंढना। एकाकी दृष्टिकोण का व्यक्ति हर विचार में विरोध ही देखता है जिससे कलह या हिंसा की संभावना सदैव रहती है। जबकि विरोधाभासों में संगति का पता लगाना विधायक चिंतन का परिणाम है। परस्पर विरोधी विचार व्यवहार में सर्वथा विरोधी नहीं होता, इस कारण उनमें समन्वय के सूत्रों को खोजा जा सकता है।

विधायक चिंतन के लिए चित्त की एकाग्रता भी आवश्यक है। उच्छृंखल चित्त अनेक समस्याएं पैदा करता है। विधायक चिंतन चित्त की एकाग्रता को फलित करता है।

विधायक चिंतन आसपास के परिवेश को अपने अनुकूल बना लेता है। वह हर विपरीत परिस्थिति या प्रतिकूल परिस्थिति में कोई न कोई ऐसे सूत्र ढूंढ लेता है जिससे विरोधी परिस्थिति या प्रतिकूल परिस्थिति में भी शांति से जीने का आधार मिल जाता है।

प्रियता-अप्रियता के विचार विकृत विचार है जो हीनता व अहंकार के कारण होते हैं जिससे व्यक्ति सत्य को नहीं पकड़ पाता। विधायक

चिंतन समतापूर्ण विचारों पर आधारित रहता है जिससे वह सत्य को समग्रता से जान सकता है। समतापूर्ण व्यवहार वाला व्यक्ति अभय के वातावरण में चिंतन करता है जिससे उसका चिंतन स्वस्थ रहता है। जबकि प्रियता-अप्रियता से ग्रसित व्यक्ति भय के वातावरण में रहता है और उसका चिंतन भी कुंठित हो जाता है, जो कई समस्याएं पैदा करता है।

अतः विधायक चिंतन विकास व शांति का मार्ग है। हृदय परिवर्तन के सूत्रों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अभय, मैत्री, करुणा, क्षमा, मृदुता आदि सभी विधायक भाव है जो व्यक्ति के निषेधात्मक भावों को बदलकर उसे अहिंसक बनाने में सक्षम होते हैं।

हृदय परिवर्तन का आधार

समस्त प्राणियों के स्वभाव के अध्ययन से हम सहज ही यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मानवीय स्वभाव विशिष्ट है। मानवीय स्वभाव का अध्ययन—"मनुष्य क्या करता है" प्रायः इसी से किया जाता है पर यदि हम मानवीय स्वभाव का वास्तविक अंकन करना चाहते है तो हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि "मनुष्य क्या कर सकता है"। मनुष्य क्या करता है, इसका संबंध मानवीय व्यवहार से है न कि स्वभाव से। प्रायः हम ऐसा देखते हैं कि मनुष्य अपने स्वभाव के विपरीत व्यवहार करता है। इसलिए हमें इस ओर अपना ध्यान आकृष्ट करना होगा कि "वह क्या कर सकता है", इस प्रश्न का सीधा संबंध मनुष्य की योग्यता और शक्ति से है जो अन्ततः उसके स्वभाव से जुड़ता है।

सामान्यतः ऐसी धारणा है कि हम साधारणतः जो करते हैं वह हमारा स्वभाव है तथा जिसे हम स्वयं से अलग नहीं कर सकते। यदि हमारा यह व्यवहार बुरा और अपराधपूर्ण है तो हम क्रूर व हिंसक पशुओं के व्यवहार से कैसे स्वयं को अलग मान सकते हैं। सामान्यतः और सामान्य परिस्थितियों में कोई व्यक्ति क्रूरता, झगड़ा, हत्या आदि नहीं करता क्योंकि उसका स्वभाव ऐसा नहीं है। यदि मनुष्य को केवल बुरा मान लिया जाए तो शिक्षा और प्रशिक्षण, कॉलेज और विश्वविद्यालय सभी अर्थहीन हो जायेंगे। सभी धर्म, नैतिकता, अध्यात्म आदि व्यर्थ हो जायेंगे जिनका चरम उत्कर्ष मनुष्यता के उस स्तर की प्राप्ति है जहां पहुंच कर कुछ भी प्राप्त करने को शेष नहीं रह जाता, सारी इच्छाएं, कामनाएं शांत हो जाती है। इसलिए किसी भी सामाजिक परिवर्तन के लिए मनुष्य में आस्था और उसकी पवित्रता में विश्वास

अपेक्षित है। किसी भी विचार और नैतिक आन्दोलन को पुनरुज्जीवित करना है तो उसका आधार मानवीय नैतिकता में अविश्वास करके हम किसी भी नैतिक विचार क्रांति को सफल नहीं बना सकते। प्रो. ए. शिशकिन ने कहा है—"मार्क्सवाद यद्यपि पूंजीपतियों, लालच, महत्त्वकांक्षा, क्रूरता व अन्य सामाजिक बुराइयों को दूर करना चाहता है लेकिन वह मानवीय पवित्रता में विश्वास करता है। भले ही उसका विश्वास ईश्वर में न हो"।

यद्यपि प्रारंभिक अस्त-व्यस्त मनोविज्ञान मनुष्य की लडाकू वृत्ति की ओर संकेत करता है पर इसका कोई वैज्ञानिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। डार्विन जिसे विकासवाद का जनक कहा जाता है, बड़ा आश्चर्य है कि वह भी शारीरिक शक्ति से नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति को बड़ा मानता है। ग्रेट आइसलैड, जोर्डन, मोहनजोदडो आदि पूर्व सभ्यताओं की खोजों में किसी भी प्रकार के विध्वंसक अस्त्रों के प्रमाण न मिलना इस तथ्य की और अधिक पुष्टि करते है कि मनुष्य स्वभावतः बुरा नहीं है। यूनेस्को के प्रो मोन्टेग (Montague) ने अपनी शोध के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि मनुष्य जन्म से आक्रामक प्रवृत्ति का नहीं रहा है, यह उसकी उपार्जित आदतों का परिणाम है। सेवाइल घोषणा पत्र में विश्व भर के विभिन्न क्षेत्रों के 20 विद्वानों ने यह घोषणा की है कि "यह कहना वैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णतः गलत और भ्रामक है कि युद्ध करने की प्रवृत्ति हमें हमारे पशु-पूर्वजों से मिली है कि युद्ध या अन्य हिंसक व्यवहार मनुष्य की वंशानुगत प्रवृत्ति है कि मानव विकास की प्रक्रिया में हिंसात्मक व्यवहार को अन्य प्रकार के व्यवहारों की तुलना में प्रधानता दी गई है कि मानव मस्तिष्क हिंसक होता है कि हिंसा का कारण हमारी उस ओर मूल प्रवृत्ति का होना है या कोई एकल अभिप्रेरणा है।"

अत. जब हमें मानवीय पवित्रता में विश्वास हो जाता है या जब हम यह स्वीकार कर लेते है कि जो बुराइयां मनुष्य में है वे सब आगन्तुक है, अर्जित है तब परिवर्तन का एक आधार तैयार हो

जाता है। व्यक्ति के जो विभाव है, जिनकी आत्माएं रुग्ण हैं, जो आसक्ति के व्यामोह में फंसे हैं उन्हें परिवर्तन के प्रयासों से परिवर्तित किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति मनुष्य के परिवर्तन और उसके स्वभाव की लोचशीलता में संदेह नहीं कर सकता।

परिवर्तन के कई पहलू है पर अहिंसात्मक प्रयोगों के अन्तर्गत "हृदय परिवर्तन" परिवर्तन का सशक्त माध्यम है। यह पद सामान्यतः व्यक्तित्व में सम्पूर्ण, सम्यक् और स्थाई परिवर्तन के लिए प्रयुक्त है। जैसे ही किसी व्यक्ति का वास्तविक हृदय परिवर्तन होता है प्रायः संपूर्ण व्यक्तित्व का पुनर्जन्म हो जाता है। उसके व्यक्तित्व में यह परिवर्तन शारीरिक शक्ति या दबाव से नहीं लाया जा सकता है। विनोबा भावे ने एक पत्र में लिखा है कि "जो यह सोचते हैं कि मानवीय व्यवहार और मस्तिष्क में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता, वे मानवीय मनोविज्ञान से अनभिज्ञ हैं तथा मानवीय स्वभाव को जड़ समझते हैं।" एक बार जब व्यक्ति की अनुभूतियां बदल जाती हैं तो वह इन परिवर्तित अनुभूतियों जैसा ही व्यवहार करने के लिए बाध्य हो जाता है।

जी डब्ल्यू आलपोर्ट (G W Allport) ने अपनी पुस्तक "Personality" में एक ऐसे लडके के बारे में लिखा है जिसके व्यवहार और अध्ययन की आदतों में अध्यापक द्वारा उसकी बुद्धि पर टिप्पणी किये जाने के बाद अचानक आशा के विपरीत परिवर्तन आया था। प्रो बेगबी और प्रेट (Prof Bagbie and J.B. Pratt) ने ऐसे बहुत से पियक्कडों के उदाहरण दिये है जो वर्षों से पीते थे पर एक ही आघात ने उन्हें पीने की लत छुडा दी। इतिहास भी ऐसे हृदय परिवर्तन का साक्षी रहा है—जैसे सम्राट् अशोक, वाल्मीकि, अंगुलीमाल, चंबल के अपराधी आदि-आदि। यह बदलाव कोई जादू नहीं है पर प्रयोग पर आधारित प्रक्रिया है जो सुझाव, भाव, व्यवहार, अनुकरण आदि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। कोई भी विचार सर्वप्रथम सामान्य तरीके से व्यक्ति में आते है फिर वे अवचेतन में उतर कर धीरे-धीरे व्यक्ति के भाव और कार्यों में उतर जाते है तथा अन्ततः

व्यक्ति की रूचि बन जाते है। जिस व्यक्ति से वह घृणा करता था उससे प्यार करने लगता है तथा जिन बुराइयों को उसने अपना रखा था उनसे उसे घृणा हो जाती है। यह आघात जहां एक ओर हृदय को स्पर्श करता है वहीं दूसरी ओर मस्तिष्क को भी मनवाता है।

यद्यपि यह सही है कि मर्मस्पर्शी आघात मात्र से व्यक्ति का रूपान्तरण घटित हो जाता है, किंतु कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि इस प्रकार के रूपान्तरण को स्थायी बनाने के लिए व्यक्ति के परिवेश को भी बदलना आवश्यक है। परिस्थितियों को बदले बिना रूपान्तरण स्थायी नहीं बना रह सकता। एक बार जब विनोबा से पूछा गया कि क्या आपके उपदेशों, आपकी प्रेरणाओं से सार्वभौमिक हृदय परिवर्तन आ जाएगा? विनोबा का उत्तर था—"केवल मेरे शब्दों से नहीं बल्कि परिस्थितियों में परिवर्तन से हृदय परिवर्तन आएगा।" हम समाज की पृष्ठभूमि को नकार नहीं सकते। समय के बहाव व इतिहास को नकार नहीं सकते। हम शून्य में नहीं सोच सकते। हमारी सोच में हमारा व्यवहार, हमारी मान्यताए और सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवहार भी प्रभाव डालते है।

जैनदर्शन ने हृदय परिवर्तन की दृष्टि को एक नया आयाम दिया है। जैनदर्शन ने मानवीय पवित्रता में विश्वास के आधार को अपने अस्तित्ववादी चिंतन से और अधिक सूक्ष्मता प्रदान की है। जैनदर्शन का मानना है कि हृदय परिवर्तन के लिए सर्वप्रथम हमें व्यक्ति स्वातन्त्र्य को स्वीकार करना ही होगा। इससे भी आगे बढ़ते हुए जैनदर्शन कहता है—हम केवल व्यक्ति स्वातंत्र्य को ही महत्त्व न दें बल्कि हमें प्राणी स्वातंत्र्य की सोच तक आगे बढ़ना है। स्वतंत्रता को केवल मनुष्यों तक ही सीमित रखा गया तो आज विश्व मे जो कुछ भी घटित हो रहा है वह होना ही है क्योकि व्यक्ति स्वातंत्र्य ने इस सोच को विकसित किया है कि मनुष्य भोक्ता है और अन्य सभी उसके लिए भोग्य सामग्री है। इसी चिंतन ने आज पर्यावरण की समस्या से विश्व को आक्रांत बनाया है। मनुष्य आये दिन प्राकृतिक

संसाधनों का दोहन करता जा रहा है और परिणाम सामने है अकाल, भूखमरी, कहीं अतिवर्षा तो कहीं वर्षा का अभाव, विकलांगता आदि-आदि।

अतः हमें इस चिंतन को आगे बढ़ाना होगा कि अस्तित्व की दृष्टि से सभी प्राणी समान है तथा सभी का स्वतंत्र अस्तित्व है। इसलिए मनुष्य के लिए अन्य सभी प्राणी भोग्य नहीं हो सकते। जिस दिन यह चिंतन मनुष्य के स्वभाव में प्रवेश पा लेगा उसी दिन गरीबी, असंतुलित विकास, लिप्सा, पर्यावरण संकट आदि गंभीर समस्याओं से वह उबर जाएगा। यह चिंतन हृदय परिवर्तन का सशक्त आधार भी बन सकेगा। आवश्यकता है सापेक्ष चिंतन और सापेक्ष व्यवहार की। अकेला मनुष्य अब और अधिक नहीं भाग सकेगा, परिस्थिति उसके कदमों में बेड़ियां डाल देंगी। समता पर आधारित व्यवस्था व परस्परता ही अब उसे गति प्रदान कर सकती है और यह तब ही संभव है जब हम अस्तित्ववादी चिंतन को आगे बढायें और उसे स्वभावगत करें।

आवश्यक है जीवनशैली में परिवर्तन

जीवन जीना एक बात है। कैसा जीवन जीना, यह सर्वथा भिन्न बात है। बहुत लोग ऐसे होते हैं जो जीते हैं पर क्यों जीते हैं, कैसे जीते हैं, आदि प्रश्नों पर कभी विचार ही नहीं करते। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो निश्चित उद्देश्य के साथ जीते हैं और विशिष्ट शैली से जीते हैं। ऐसे व्यक्तियों का युग आने वाली सदियों का मानदण्ड बन जाता है। वे केवल समय को नहीं जीते, उनके जीवन में संस्कृति होती है, सभ्यता होती है और एक परम्परा होती है जो पीढ़ी दर पीढी संक्रान्त होती है और अपने युग की स्थायी पहचान बन जाती है।

वर्तमान युग हिंसा की बहुलता का युग है क्योंकि विश्व में हिंसा के क्रमबद्ध प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था है। अहिंसा के विकास के लिए भी इसी प्रकार के क्रमबद्ध व वैज्ञानिक आधार पर प्रशिक्षण की अपेक्षा है। वर्तमान में अहिंसक-समाज-रचना की दृष्टि से अनेक व्यवहारिक प्रयोग किये जा रहे है। इसी क्रम में जीवन शैली में परिवर्तन द्वारा अहिंसा के प्रशिक्षण की पद्धति भी है। अहिंसा पर आधारित जीवन शैली के ग्यारह सूत्र हैं जिनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—

1. व्यवहारिक अहिंसा या हिंसा निषेध

आधुनिक विचारधारा जीवन के लिए संघर्ष को आधार मानती है तथा दूसरी तरफ विकास के लिए इच्छा के आधिक्य को आवश्यक समझती है। अर्थात् संघर्ष और इच्छा विस्तार आधुनिक जीवन शैली के विशिष्ट अंग हैं। प्राचीन परम्परा भी हिंसा और परिग्रह को जीवन का आधार मानती रही है।

अहिंसक जीवनशैली जीवन का आधार संघर्ष को नहीं अपितु अहिंसा, प्रेम, करुणा और मैत्री को मानती है। यद्यपि जीवन के

लिए हिंसा अनिवार्य है पर हिंसा की स्वीकृति में अंतर हैं। हिंसा जीवन की अनिवार्यता हो सकती है, पर जीवन का आधार हिंसा नहीं हो सकती। शारीरिक स्तर पर हिंसा अनिवार्य है पर मानसिक स्तर पर हिंसा का समर्थन नहीं किया जा सकता।

हिंसा के चार प्रकार जैनागमों में स्वीकृत किये गये है—आरम्भजा, विरोधजा, संकल्पजा और उद्योगी। कृषिकार्य आदि से सम्बंधित हिंसा को आरम्भजा हिंसा कहते हैं। जीवन यापन की दृष्टि से यह हिंसा अनिवार्य है। अस्तित्व सुरक्षा के लिए, आक्रमण से सुरक्षा के लिए की गई हिंसा विरोधजा हिंसा है। इसे भी कुछ सीमा तक स्वीकृत किया जा सकता है। आक्रामक मनोभाव या बिना प्रयोजन की गई हिंसा संकल्पजा हिंसा है, इसे कभी भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता। व्यापार आदि से संबंधित हिंसा उद्योगी हिंसा है।

अहिंसक जीवन शैली हिंसा के अल्पीकरण का सूत्र देती है जो सामाजिक शांति, जीवन विकास व अस्तित्व की स्थिरता के लिए आवश्यक है। हिंसा की उन्मुक्तता महाहिंसा की ओर प्रयाण है और इससे संस्कृति को खतरे पैदा होते रहे है। संस्कृति के विकास एवं संगठित हिंसा के प्रतिरोध के रूप में ही हिंसा के अल्पीकरण का स्वरूप मुखर हुआ है। कुछ राजनीतिक पद्धतियां, धार्मिक मंच आदि विचारों के स्तर पर हिंसा की अनिवार्यता को मानते है तथा उनके अनुसार अपना विचार या धर्म बलात् किसी पर थोपा जा सकता है। जैन जीवनशैली स्वस्थ समाज रचना के लिए इसे अनावश्यक व अवांछनीय मानता है। इसलिए जैन जीवनशैली मूलतः हिंसा के अल्पीकरण का सिद्धान्त देती है जो साधन शुद्धि के सिद्धान्त का ही विकास है।

2. अनाक्रमण

आक्रमण करना एक मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति का उद्भव भय के कारण होता है तथा क्रोध, लोभ, क्षोभ आदि आक्रमण के हेतु बनते है। सुख-सुविधाओं का विस्तार, भविष्य की असुरक्षा, लिप्सा आदि व्यक्ति को आक्रामक बना देते हैं।

व्यक्ति के आक्रान्ता बनने के चार कारण स्थानांग सूत्र में दिये गये हैं—

1. अनर्जित सुखों के अर्जन के लिए।
2. अर्जित सुखों के संरक्षण के लिए।
3. अनर्जित भोगों के अर्जन के लिए।
4. अर्जित भोगों के संरक्षण के लिए।

इनमें जो व्यक्ति सहायक बनते हैं वे आत्मीय बन जाते हैं और दूसरे विरोधी। स्वत्व और परत्व की यह मनोवृत्ति ही व्यक्ति को आक्रान्ता बनाती है।

प्रत्याक्रमण न करना आदर्श है, पर व्यवहार में यह भी ठीक है कि व्यक्ति या राष्ट्र यह संकल्प करे कि मैं किसी पर आक्रमण नहीं करूंगा और न आक्रामक नीति का समर्थन ही करूंगा। ऐसी नीति असमानता व घृणा की जगह समानता, सहयोग व शांति को बढ़ाती है।

3. विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में भाग न लेना

तोड़-फोड़ व आतंकवाद वर्तमान समय की ज्वलंत समस्या है। व्यक्ति अल्पकालीन लाभ के लिए, अपनी बातों को मनवाने के लिए, सरकार पर दबाव डालने के लिए विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में संलग्न हो जाता है, जिससे राष्ट्रीय सम्पत्ति की हानि होती है, संसाधनों का सही उपयोग नहीं हो पाता तथा राष्ट्रीय विकास अवरुद्ध हो जाता है। आज हिंसक आन्दोलनों से कई राष्ट्र समस्या ग्रस्त हैं। ऐसी प्रवृत्तियों में भाग लेना समाज या राष्ट्र के लिए तो घातक है ही, व्यक्ति स्वयं के लिए भी घातक है।

4. मानवीय एकता में विश्वास

मानवीय एकता में विश्वास का अर्थ है मानवीय अस्तित्व की समानता का विश्वास। अस्तित्व की अपेक्षा से समूचा विश्व एक है और व्यक्ति की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र। अनेकता में एकता

का चिंतन ही मानवीय एकता में विश्वास है। आज विडम्बना है कि मानव को धर्म, वर्ण, जाति, राष्ट्र आदि के आधार पर बांट्र जा रहा है। जहां बंटवारा है वहां एकता खण्डित हो जाती है और स्वार्थ प्रमुख हो जाते हैं तथा अनेक समस्याएं पैदा हो जाती हैं। न केवल राष्ट्रीय स्तर पर बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी इसलिए केवल मनुष्य को ही नहीं अपितु सभी प्राणियों को समान समझना आचार शास्त्र का नियम है। सापेक्ष दृष्टि से देखा जाए तो—

1. प्रत्येक मनुष्य अस्तित्व की दृष्टि से समान है।
2. प्रत्येक मनुष्य सामर्थ्य की दृष्टि से समान है।
3. जैव विज्ञान के आधार पर मनुष्य समान है।

मनुष्य जाति एक है, इस सिद्धान्त की स्वीकृति के पश्चात् क्या किसी को तिरस्कृत करना, मारना, सताना स्वयं को ही तिरस्कृत करने, मारने, सताने का प्रयत्न नहीं है? जैन आगमों में कहा गया है—

पुरुष! जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है
जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है
जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है।

आत्मतुला की इस भूमिका पर विश्व के सब प्राणियों की एकता प्रतिपादित होती है। सब मुझमें है, मै सबमें हूं—इस विराटता में ही मानवीय एकता प्रतिबिम्बित हो सकती है।

जाति, वर्ण, वर्ग, धर्म आदि कृत्रिम भेद है। इन्हें मुख्य मानकर प्रेम, सद्‌भाव, विश्वास व न्याय की हत्या मानवीय मूल्यों की हत्या है। भेद की कल्पना प्रकृतिगत नही, मानव द्वारा निर्मित है। इन आरोपित भेदों को मानकर किसी को हीन मानना स्वयं की हीनता है। केवल अपने ही दृष्टिकोण को महत्त्व देना, स्वार्थसिद्धि के लिए देश की भी परवाह न करना सत्य से मुंह मोड़ना है। अहिंसक जीवनशैली इन भेदों को दूरकर मानवीय एकता में विश्वास की बात करती है।

जब एक व्यक्ति परिवार में भिन्न-भिन्न वर्ण, रुचि, स्वभाव वाले लोगों के साथ रह सकता है तो वह अन्य लोगों के साथ क्यों नहीं रह सकता।

5. सर्वधर्म सहिष्णुता

धर्म जीवन का शाश्वत मूल्य है। सत्य साक्षात्कार या आत्म साक्षात्कार की प्रक्रिया का नाम धर्म है। इस दृष्टि से धर्म एक अखण्ड चेतना है, इसे विभक्त करना कठिन है। सहिष्णुता का प्रश्न अनेकत्व के प्रश्न से ही उपस्थित होता है। यदि व्यवहारिक दृष्टि से देखें तो भी धर्म के अनेक भेद क्षमा, दया, प्रेम, करुणा, सत्य, तप आदि को ध्यान में रखकर धर्म के अनेक रूप सामने आयें तो भी उनमें मतभेद नहीं होगा। मतभेद है सम्प्रदायों में। धर्म ने अपने व्यापक अर्थ को खो दिया है, वह सम्प्रदाय के अर्थ में रूढ़ हो गया है। सम्प्रदाय का अस्तित्व विचारभेद की परिणति का ही परिणाम है। किसी भी देश में अनेक विचार व मत होना कोई समस्या नहीं। समस्या है अपने को सर्वोच्च मानकर दूसरों को छोटा मानना। असद्भावों के बीजो का वपन यहीं से होता है।

हर धर्म सत्य की अभिव्यक्ति करता है। यदि सत्य के सापेक्ष दृष्टिकोण को मान लिया जाए तो सभी धर्म सत्य के एक अंश को प्रकट करते है। केवल उसी विशिष्ट दृष्टिकोण को ही सत्य मानकर दूसरे धर्मों के दृष्टिकोण को ठुकराया जाना धार्मिक संघर्षों का प्रमुख हेतु बनता है। अहिंसक जीवनशैली यह बतलाती है कि सापेक्ष दृष्टि से सभी धर्म सत्य हैं, इसलिए हमें सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु बनना चाहिए। हर धर्म की अपनी विशिष्टता है—जैनों की अहिंसा, बौद्धों की करुणा, ईसाइयों की सेवा, वेदों का आचार अपने आप में विशिष्ट है। हमें सभी धर्मो के अच्छे तत्त्वों के प्रति उदार रहना ही चाहिए। सभी धर्मों के लक्ष्य श्रेयात्मक हैं, बाह्य स्वरूप में भिन्नता हो सकती है। इसलिए हर धर्म के प्रति आदर व सहिष्णु बनना हमारा कर्त्तव्य है।

6. व्यवहार व व्यापार में प्रामाणिकता

सत्य के दो रूप हैं—आध्यात्मिक और सामाजिक। आध्यात्मिक सत्य व्यक्तिगत होता है। कोई भी आत्मनिष्ठ व्यक्ति असत् आचरण नहीं करता। असत् आचरण का अभाव ही प्रामाणिकता है। जबकि सामाजिक सत्य कहता है—एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ व्यवहार यथार्थ की स्वीकृति के आधार पर हो, यही व्यवहारिक प्रामाणिकता है। इसके तीन मापदण्ड हैं—

व्यवहारिक प्रामाणिकता में प्रवंचना (कपट) नहीं होती।

व्यवहारिक प्रामाणिकता में व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं होता।

व्यवहारिक प्रामाणिकता में अतिरिक्त लाभ पाने की इच्छा नहीं होती।

व्यक्ति इन मापदण्डों का पालन करता है तो इससे वह स्वयं तो लाभान्वित होता ही है, कुछ लाभ समाज व राष्ट्र को भी मिलता है। वर्तमान में प्रायः यह देखा जाता है कि व्यक्ति लोभ के कारण, क्षणिक लाभ के लिए अप्रामाणिक बन जाता है। इसी का परिणाम है कि व्यक्ति मिलावट, झूठा तौल-माप, चोर बाजारी, रिश्वत, राज्य निषिद्ध व्यापार जैसे कार्यों में लिप्त होता जा रहा है। जब तक व्यक्ति असीम इच्छाओं का अल्पीकरण न करे, लोभवृत्ति का शमन न करे, तब तक यह संभव नहीं कि व्यक्ति व्यापार और व्यवहार में प्रामाणिक बन सके। अप्रामाणिक व्यक्ति स्वयं अपना ही अहित नहीं करता, वरन् वह सामाजिक, राष्ट्रीय मूल्यों की हत्या भी करता है।

स्वयं की प्रामाणिकता व्यक्ति को तो आत्मतोष देती ही है, बल्कि उसे कई उलझनों से भी बचा लेती है तथा समाज के लिए भी वह शिष्टता व प्रगति का मापदण्ड बनता है। दीर्घकालीन सफलता भी उन्हीं को मिलती है तो प्रामाणिक रहते हैं।

7. आत्मसंयम का विकास

भोगवादी संस्कृति का मूल आधार असंयम है। असंयम के कारण ही विश्व में अनेकानेक समस्याएं बढ़ती जा रही हैं। असंयम ने मनुष्य

को सुविधावादी बनाया है और सुविधावाद बनाये रखने के लिए वह दिनोंदिन सुविधाएं प्रदान करने वाली सामग्री का उत्पादन व उपभोग कर रहा है जिससे न केवल संसाधनों का असीमित दोहन हो रहा है बल्कि पर्यावरणी प्रदूषण के भी खतरे पैदा होते जा रहे हैं। असंयम की प्रवृत्ति ने ही मनुष्य को शस्त्रास्त्र के उत्पादन व परीक्षण को प्रोत्साहन दिया है। मनुष्य की अनन्त इच्छाओं को कहीं तो विराम देना ही होगा, नहीं तो यह विश्व एक दिन अपने ही विकास के नीचे दबकर खत्म हो जाएगा। यदि संयम व आत्मानुशासन के द्वारा व्यक्ति की विवेक चेतना को जागृत नहीं किया गया तो व्यक्ति की इन्द्रियों की मांग बढती ही चली जाएगी और फिर हर मांग को संतुष्ट कर पाना असंभव होगा। परिणाम होगा—संघर्ष, हिंसा।

गांधी जी का खादी व स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग आत्मसंयम की दिशा में एक प्रयास था। ब्रह्मचर्य की साधना भी संयम का ही एक प्रयास है जिससे जनसंख्या नियंत्रण संभव हो सकता है।

यह आवश्यक है कि वृत्तियों का संयम व विवेकपूर्वक शोधन किया जाए। वृत्तियों के दमन से इच्छाएं व वासनाएं समाप्त नहीं होती, वे अवचेतन में रहती हैं और अवसर पाकर फिर उभर सकती हैं। दमन में न वृत्तियों का शोधन है और न विवेक चेतना का जागरण। जबकि सयम वृत्तियों को दबाने की प्रक्रिया नहीं अपितु वृत्तियों के शोधन की प्रक्रिया है। इसलिए गीता में भी आत्मसंयम पर बल दिया गया है। फ्रायड वृत्तियों के दमन की बात कहता है। वृत्तियों को बदलने के लिए उनका उदात्तीकरण आवश्यक है, जो संयम द्वारा ही संभव है।

8. चुनावों में शुद्धता

लिंकन के शब्दों में लोकतंत्र का अर्थ है—जनता के लिए, जनता के द्वारा, जनता का शासन। लोकतंत्र में मतदान का विशेष महत्त्व है। मतदान के व्यापक अधिकार से कुछ कठिनाइयां भी पैदा होती हैं और उन देशों में यह कठिनाइयां अधिक हैं जहां की जनता शिक्षित नहीं है, जहां गरीबी अधिक है तथा जहां लोगों के विचार विकसित

नहीं है। शिक्षित देशों में मतदान में कोई गड़बड़ी नहीं होती यह तो नहीं कहा जा सकता, पर वहां अज्ञान-जन्य कठिनाइयों से बचाव हो जाता है।

मतदान की पद्धति के साथ ही प्रलोभन की कड़ी जुड़ी हुई है। मतदान की स्वस्थ परम्परा में सबसे बड़ी बाधा प्रलोभन की ही है और इसी का यह परिणाम है कि चुनावों में अनैतिक साधनों का उपयोग बढ़ रहा है, लोगों को उनके मतों के अधिकार से जबरन वंचित रखकर लोकतंत्र की हत्या की जा रही है। चुनावों में बढ़ती हिंसा, मतदान केन्द्रों पर कब्जा आज चुनावों में आम घटनाएं बन गई है। चुनाव में येन-केन-प्रकारेण सफलता प्राप्त करना ही उम्मीदवारों का लक्ष्य बन जाता है भले ही इसके लिए राष्ट्र को कितनी ही बड़ी कीमत क्यों न चुकानी पड़े।

अहिंसक जीवनशैली का मानना है कि मतदान की स्वस्थ परम्परा में विजय-पराजय की बात गौण है। मुख्य बात है व्यक्ति की योग्यता और विशेषता का अंकन कर उसे निर्वाचित करना। मतदाता और प्रार्थी की कुछ दुर्बलताएं इस मार्ग की बाधाएं हैं। प्रार्थी (उम्मीदवार) को अपनी प्रतिष्ठा एवं अहं का मोह रहता है, इसी कारण प्रलोभन, भय और आतंक की परिस्थितियां पैदा हो जाती है तथा उनके आगे मतदाता घुटने टेक देते है। अतः हमें यह मानकर चलना चाहिए कि बुराई दोनों पक्षों की ओर से होती है। चुनाव परम्परा में विकृति नहीं हो तो योग्य व्यक्ति अनायास ही सामने आ जाएगा। जनतंत्रीय पद्धति स्वीकार करने के बाद प्रलोभन व अनैतिक तरीकों से चुनाव जीतना अनुचित है। जो ऐसा करते है वे वस्तुत· अपने विचारों व लोकतंत्र की हत्या करते हैं। वैचारिक मृत्यु व्यक्ति की सबसे बड़ी पराजय है। इसलिए लोकतंत्र की स्वस्थ प्रणाली में विजयी बनने के लिए प्रलोभन, भय या आतंक की स्थिति पैदा करने का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। इस हेतु अग्रांकित बिंदु विचारणीय हैं—

* कोई भी मतदाता प्रलोभन एवं जाति, धर्म आदि के आधार पर मतदान न करे। उम्मीदवार के गुणों के आधार पर मतदान करे।
* उम्मीदवार के विरुद्ध गलत प्रचार, अशांति व उपद्रव न करे तथा अवैध मतदान न करे।
* कोई भी उम्मीदवार भय, प्रलोभन, जाति, धर्म आदि के आधार पर मत लेने का प्रयत्न न करे।
* प्रतिपक्षी के विरुद्ध अश्लील प्रचार, अशांति व उपद्रव न करे।
* दलगत राजनीति की जगह लोकतंत्र को प्राथमिकता मिले।
* लोकतंत्र के प्रति व्यापक शिक्षा दी जाये।
* चुनावों के दौरान साधनशुद्धि पर बल दिया जाये।
* चुनावों में शुद्धता के लिए राजनीतिज्ञों, मतदाताओं व पत्रकारों का क्रमबद्ध प्रशिक्षण हो।

९. सामाजिक कुरुढ़ियों को प्रश्रय न देना

जिस विचार, व्यवस्था की जब तक उपयोगिता है, तब तक उसका मूल्य और महत्त्व है। उपयोगिता समाप्त होने के साथ उसका मूल्य भी समाप्त हो जाता है, वह मूल्यहीन बन जाती है। मूल्य समाप्त होने के बाद भी उस परम्परा या व्यवस्था को चलाए रखने का प्रयत्न कुरूढि है। परिवर्तन सृष्टि का शाश्वत तत्त्व है। हर परिवर्तन के मुख्य हेतु है—देशकाल का परिवर्तन, विचार परिवर्तन। विचार परिवर्तन के साथ विकास होता है। हर नया विकास अपने से पूर्व की स्थिति का मूल्य समाप्त कर देता है। कठिनाइयां तब उत्पन्न होती है जब हम इन परिवर्तनों को स्वीकार नहीं करते तथा परम्पराओं का निर्वहन ही अपना ध्येय मानते है, भले ही वे मूल्यहीन हो गई हों, ऐसी ही परम्पराओं को कुरूढियां कहा जाता है।

समाज में आज भी कई कुरूढियां विद्यमान है—जैसे दहेजप्रथा, पर्दाप्रथा, मृत्युभोज, बालविवाह, विधवाओं के साथ दुर्व्यवहार आदि-आदि।

जो परम्पराएं किसी काल में किन्हीं कारणों से स्थापित की गई थीं, वे आज जड़ होकर रह गई हैं, उनके निर्वहन का आज क्या औचित्य हो सकता है ?

दहेजप्रथा के कारण न जाने कितनी अबलाओं की बलि भारतवर्ष में दी जाती है। धन के लोभी इन अबलाओं को पाशवीय यातनाएं देने से नहीं चूकते। इसी तरह का व्यवहार विधवाओं और विशेषकर बाल विधवाओं के साथ देखा जाता है। पर्दाप्रथा स्त्री शक्ति को न उभरने देना है जबकि बाल-विवाह उस बच्चे के प्रति अपराध है जो अभी नासमझ है। व्यक्ति ऋण लेकर भी मृत्युभोज करने के लिए विवश होता है।

अहिंसक जीवनशैली का मंतव्य है—इन कुरूढ़ियों को अपने जीवन में प्रश्रय नहीं देना। इनसे व्यक्ति का अहित तो है ही, समाज का विकास भी अवरुद्ध हो जाता है। कुरूढ़ियों के विरुद्ध जनमत जाग्रत किया जाना अपेक्षित है, इस हेतु शिक्षा का प्रसार भी आवश्यक है।

10. मादक पदार्थों के सेवन का निषेध या व्यसन मुक्त जीवन

मादक पदार्थों के सेवन की समस्या आज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चिंता का विषय बन चुकी है। आधुनिक समाज में युवापीढ़ी जीवन की समस्याओं से घबराकर मादक पदार्थों की शरण में जा रही है। यह अत्यन्त चिन्तनीय है। अफीम, चरस, हेरोइन आदि अनेक ऐसे मादक पदार्थ हैं जो तस्करी के कारण सामान्य लोगों की पहुंच से परे नहीं रहे हैं। एक बार इनके सेवन के पश्चात् मनुष्य इनका गुलाम बनकर रह जाता है, फिर उसे इन पदार्थों की आपूर्ति करने वाले व्यक्ति की जायज-नाजायज हर बात माननी पडती है। व्यक्ति अपराधों की तरफ उन्मुख हो जाता है। इन मादक पदार्थों की भयावहता का अन्दाज इस तथ्य से हो सकता है कि जब व्यक्ति इनका बहुत अधिक आदी बन जाता है तो ये मादक पदार्थ भी इन व्यक्तियों पर असर नहीं करते। ऐसे व्यक्तियों को जहरीले सांपों द्वारा नशे के लिए कटवाया जाता है।

नशे का सेवन व्यक्ति भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भी करता है, जैसे ठण्डे देशों में मदिरापान आम बात है। कुछ विलासी मनोवृत्ति वाले लोग सोसाइटी के नाम पर मादक पदार्थों का सेवन प्रारंभ कर देते है। गलत सम्पर्क के कारण भी मादक पदार्थों की आदत बन जाती है और कभी-कभी व्यक्ति अज्ञान के कारण भी इनका शिकार बन जाता है। मादक पदार्थों के कुपरिणामों के कारण आज प्रतिवर्ष लाखों व्यक्ति विश्व में मर रहे है तथा मादक पदार्थों की तस्करी व व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय जगत् की प्रमुख समस्या बन गया है। सरकारें भी आर्थिक लाभ के लिए इनकी रोकथाम के लिए कारगर उपाय नहीं कर पाती।

अहिंसक जीवनशैली का मानना है कि सरकार आर्थिक लाभ के लिए मादक पदार्थों के सेवन को प्रोत्साहन देती है जबकि सरकार का ध्यान आर्थिक लाभ की जगह देश की चारित्रिक गिरावट की ओर जाना चाहिए। यद्यपि मादक पदार्थों का सेवन व्यक्तिगत घटना है पर इससे पूरा समाज प्रभावित होता है। समाज में नैतिक मूल्यों के पतन के पीछे तथा बलात्कार आदि घटनाओं का एक प्रमुख कारण मादक पदार्थों का सेवन है क्योंकि इनके सेवन से, व्यक्ति की विवेक शक्ति खत्म हो जाने से वह पशुवत् हो जाता है। इसके दुष्परिणामों से बचने के लिए निम्न बिन्दु विचारणीय है—

(1) लोगों को इनके दुष्परिणामों की जानकारी दी जाए।

(2) मादक पदार्थों के विरोध में प्रबल जनमत जुटाया जाए।

(3) शिक्षा का व्यापक प्रसार हो विशेषकर स्वास्थ्य शिक्षा का।

(4) परिवार का मुखिया या परिवार का सदस्य एक दूसरे को इन पदार्थों के सेवन से बचने के लिए प्रेरित करे।

(5) कानून भी इनकी रोकथाम का एक सशक्त माध्यम बन सकता है। गांधीजी ने तो यहा तक कहा है कि मादक पदार्थों की बिक्री से यदि शिक्षा का प्रसार भी होता हो तो उससे अशिक्षा ज्यादा अच्छी है। इसलिए सरकारी प्रतिबध तो आवश्यक ही है।

(6) हृदय परिवर्तन के लिए प्रयोग किया जाए।

11. पर्यावरणीय चेतना का विकास

सृष्टि का जीवन सापेक्ष है। इसमें जड़ और चेतन जितने पदार्थ हैं, वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा एक दूसरे से प्रभावित होते भी हैं। धरती, हवा, पानी और वनस्पति सृष्टि-संतुलन के आधारभूत तत्त्व हैं, ये जैसे हैं, वैसे ही बने रहें तो सृष्टि का संतुलन बना रहता है। इनमें गड़बड़ी से यह संतुलन बिगड़ने का खतरा बना रहता है। खनिजों का अत्यधिक दोहन, कारखानों और चिमनियों से उठने वाला धुआं, प्राकृतिक व्यवस्था के साथ छेड़-छाड़, परमाणु-परीक्षण आदि पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं तथा इस कारण विश्व में ओजोन परत को क्षति, भूमि के उपजाऊपन में कमी, नाभिकीय शीत, तापमान में वृद्धि, पशु-पक्षियों की कई प्रजातियों का लुप्त होना आदि समस्याएं पैदा हो रही हैं।

मानव सभ्यता की कहानी प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन की कहानी है। जब से मनुष्य ने सुमेरिया, मिश्र और सिंधुघाटी की सभ्यता को जन्म दिया, तब से वह प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध किसी न किसी संघर्ष में जुटा हुआ है। औद्योगिक क्रांति ने प्रकृति पर मानव जाति की विजय को भी साबित कर दिया है। पर्यावरण की जटिलताओं को समझे बिना उसने स्वार्थपूर्ति हेतु प्रकृति की व्यवस्था में व्यापक हस्तक्षेप शुरू कर दिया और इसी का दुष्परिणाम आज हमारे सामने है।

अहिंसक जीवनशैली का मानना है कि सृष्टि में संतुलन बिगड़ने का मूल कारण असंयम है। मनुष्य अपनी आकांक्षाओं का विस्तार करता गया और आकांक्षा पूर्ति के लिए पृथ्वी का बेहिसाब उत्खनन, जल का अधिक प्रयोग, औद्योगीकरण, वन कटाई, शिकार आदि करता गया और स्वयं अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मारने लगा। पर्यावरणीय संतुलन के लिए संयम की साधना अपेक्षित है। संयम से ही पर्यावरण की सुरक्षा हो सकती है और पर्यावरण की सुरक्षा में ही मानव जाति व अन्य प्राणियों की सुरक्षा निहित है।

जीवन शैली में व्यापक परिवर्तन कर समाज को शांतिमय बनाया जा सकता है।

शांति सेना बदलता स्वरुप

विकास के साथ संघर्ष जुड़ा हुआ है। जटिलता तब होती है जब ये संघर्ष हिंसक हो जाते हैं अथवा शीतयुद्ध का रूप ले लेते हैं। ऐसी परिस्थितियों में संघर्ष शमन आवश्यक हो जाता है। संघर्ष शमन के लिए हिंसक साधनों का बहिष्कार पूरी दुनिया करने को तत्पर है क्योंकि उसे अपना अस्तित्व कायम रखना है। संघर्ष शमन के अहिंसक प्रतिकार के लिए वार्ता, सौदेबाजी, पंच-निर्णय, संधिय, आत्म-शक्ति का प्रयोग प्रमुख साधन हैं। अहिंसक प्रतिकार के लिए कुछ अभिकरण भी कार्य करते रहे हैं। इनमें से प्रमुख हैं—गांधी एवं विनोबा की शांति सेना, अमेरिका की पीस कोरप्स, संयुक्त राष्ट्र संघ के शांति पर्यवेक्षक आदि।

इतिहास में सर्वप्रथम गांधी जी ने शांति सेना के लिए अहिंसक सेना शब्द का प्रयोग सन् 1922 में किया था। गांधीजी के जीवनकाल में शांति सेना कोई विशेष कार्य नहीं कर पाई थी पर गांधीजी कहा करते थे—"अहिंसामय हो जाने वाले व्यक्ति जिस बात की इच्छा करें, वह होकर रहेगी।" गांधीजी ने शांति सेना के निर्माण काल में इसके तीन उद्देश्य निर्धारित किये थे—(1) सभी स्थानों पर तनावों को रोकना, (2) हिंसा हो जाए तो अहिंसक शक्ति से हिंसा का शमन और (3) अहिंसक विधायक शक्ति का निर्माण जिससे सहकारिता का विकास हो तथा संघर्ष विहीन समाज का विकास हो सके। यद्यपि दीर्घकाल में शांति सेना को पुलिस व सेना का स्थानापन्न बनना था जिसके सैनिकों के पास मात्र प्रेम और अहिंसा के शस्त्र ही होते। सन् 1957 में विनोबा भावे ने गांधीजी के मरणोपरान्त उनके शांति सेना के गठन के प्रयासों को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया। विनोबा

भावे ने शांति सेना के लिए जिन कार्यों का निर्धारण किया था, वे हैं— (1) शहरी व ग्रामीण दंगों को रोकना, (2) मध्यस्थ के रूप में कार्य करना, (3) शांति की आवश्यकता का अनुभव कराना, (4) शांति भंग करने वाली अफवाहों का पता लगाना, (5) दंगाइयों के बीच घुसकर अहिंसक प्रतिकार करना और (6) समाज के पुनर्निर्माण के लिए कार्य करना। इन कार्यों को लेकर चले विनोबा जी के प्रयत्नों के फलस्वरूप सन् 1960 तक शांति सेना के कई हजार सक्रिय कार्यकर्त्ता बन गये थे। 1961 में इस शांति सेना का अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप "वर्ड पीस ब्रिगेड" के नाम से सामने आया। सन् 1981 में वर्ड पीस ब्रिगेड का पुनरुद्धार कर पीस ब्रिगेड इन्टरनेशनल का गठन हुआ। इन शांति सेनाओं द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य भी किये गये जिनमें से प्रमुख हैं—1938 में हिंदू-मुस्लिम दंगों को रोकना, 1963-64 में दिल्ली पीकिंग शांति मार्च, 1964 में पूर्वी भारत में मुख्यतः नागालैंड में अशांति को रोकना, 1972 में साइप्रस में, 1983 में निकारगुआ तथा 1985 में गवैतमाला में पुनर्निर्माण कार्य।

विनोबा ने गांधी जी को उद्धृत करते हुए लिखा है—"शांति सेना सशस्त्र फौज की तरह सिर्फ अशांत दिनों में ही नहीं बल्कि शांति के दिनों में भी कार्य करेगी। शांति सैनिक सदा ऐसी रचनात्मक प्रवृत्तियों में लगे रहेंगे, जिससे दंगे होने ही असंभव हो जाएं। झगड़े वाली कौमों को मिलाने के लिए मौके ढूंढना, शांति का प्रचार करना, ऐसा प्रचार करना जिससे उनका संपर्क उस क्षेत्र के स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, हर किसी से हो सके—यह उन शांति सैनिकों का कर्त्तव्य होगा। ऐसी सेना किसी भी संकटकालीन परिस्थिति का मुकाबला करने और उसके लिए जितने लोगों की जरूरत होगी, उतने लोग जान की जोखिम उठाने के लिए तैयार रहेंगे। कुछ सौ या कुछ हजार लोगों का ऐसा निष्कलंक बलिदान दंगों को हमेशा के लिए खत्म कर देगा। ऐसे पागलपन का सामना करने के लिए पुलिस और फौज की नुमाइश और उपयोग के मुकाबले में तथा कुछ सौ युवक-युवतियों की भीड़ के क्रोध के सामने स्वेच्छापूर्ण आत्मसमर्पण करना जरूर कम खर्चीला

समझा जाएगा।" ऐसे शांति सैनिकों के लिए क्षमा, सहनशीलता, करुणा, सद्‌भाव आदि गुण आवश्यक माने गये थे। निश्चित ही शांति सेना का यह स्वरूप आदर्श स्वरूप था तथा इसकी कार्य पद्धति भी वर्तमान शांति सेनाओं की तुलना में सर्वथा अहिंसक थी।

शांति सेना की इसी तर्ज पर बनी अमेरिका की पीस कोरप्स है। जिसकी स्थापना 1961 में राष्ट्रपति कैनेडी द्वारा की गई थी। अमेरिकी कांग्रेस द्वारा पीस कोरप्स के ये उद्देश्य निर्धारित किये गये थे—(1) विश्व शांति और मैत्री स्थापित करना, (2) इच्छुक राष्ट्रों व क्षेत्रों को स्वयं-सेवक उपलब्ध करवाना, (3) इच्छुक राष्ट्रों व क्षेत्रों के लोगों की आवश्यकताओं के अनुरूप मानव शक्ति को अहिंसक प्रयोग के लिए प्रशिक्षित करने में सहायता देना, (4) अमेरिका के लोगों के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण का निर्माण करना तथा (5) अमेरिका के लोगों के दृष्टिकोण को विश्व के अन्य लोगों के अनुकूल बनाना। पीस कोरप्स के सतत प्रयासों से दो महत्त्वपूर्ण लक्ष्यों की प्राप्ति हुई—(1) अमेरिकन नागरिक जो भिन्न उम्र व पृष्ठभूमि के हैं वे विकासशील देशों में स्वेच्छा से सेवाएं देते हैं, (2) तीसरी दुनिया में लोगों का जीवन स्तर बेहतर बनाने के लिए ज्ञान और चातुर्य के क्षेत्र में ये सहयोग देते हैं।

इस शांति सेना में स्वयं-सेवकों की भर्ती के लिए कम से कम 18 वर्ष की आयु है। इन स्वयं-सेवकों को कहीं भेजने से पूर्व इन्हें भाषा, संस्कृति, शहरों व गांवों में रहने का प्रशिक्षण, आरामदेह तथा तंग संकरी जगहों में रहने का प्रशिक्षण दिया जाता है। कहने का तात्पर्य है—इन्हें इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता है कि वे संबंधित राष्ट्र जहां इन्हें भेजा जाना है की भाषा, सभ्यता, संस्कृति तथा विपरीत परिस्थितियों में रह सकने की आदत डाल सकें। ये स्वयं-सेवक मेजबान राष्ट्र की संस्कृति, स्थानीय जीवन, भाषा आदि में स्वयं को एकदम खपा देते हैं तथा शांति और भाईचारे के लिए कार्य करते हैं। मेजबान राष्ट्र में कार्यों के लिए ऐसी पद्धतियों का

चयन करते हैं जिससे वहां की संस्कृति और पर्यावरण को कम से कम नुकसान हो। समाज लाभान्वित हो पर मूल्य नष्ट न होने पाये। स्वदेश लौटने पर इन स्वयं-सेवकों की प्राथमिक जानकारियों का उपयोग अमेरिकन नीतियों एवं भविष्य की योजनाओं में सहायक बनता है। इसलिए इन स्वयं-सेवकों को उचित रोजगार सुलभ करवाया जाता है।

अमेरिकन पीस कोरप्स की कार्यप्रणाली भी पूर्णतः अहिंसक ही है। छद्म राजनैतिक उद्देश्यों की शंका प्रायः बनी रहती है।

वर्तमान शांति सेना का स्वरूप न तो गांधी की शांति सेना जैसा ही है और न ही अमेरिकन पीस कोरप्स जैसा ही। गांधी की शांति सेना का तो कोई राजनीतिक उद्देश्य तक नहीं था। वर्तमान शांति सेना हथियार बंद शांति सेना है। यद्यपि यह शांतिपूर्ण समाधान के लिए ही कार्य करती है पर आत्मरक्षा के लिए हथियारों का प्रयोग कर सकती है। इस प्रकार के शांति सैनिकों को शांति-पर्यविक्षक भी कहा जा सकता है। ये पर्यवेक्षक संघर्षरत दो राष्ट्रों के बीच जाकर दोनों राष्ट्रों को संघर्ष से अलग करने का प्रयास करते हैं। यह एक अंतर्राष्ट्रीय निकाय है, जो सैनिक स्वरूप का है। इसके तीन महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं जिनके आधार पर यह कार्य करता है—(1) पक्षों की सहमति, (2) सैनिक स्वरूप तथा (3) निष्पक्षता। इसकी कार्य पद्धति का सार "शांति बनाये रखना" है, "शांति होना" नहीं। शांति बनाये रखने में नियंत्रण द्वारा कार्य किया जाता है जबकि "शांति होना" में पूर्ण संघर्ष शमन की प्रक्रिया होती है। यह शांति सेना दबाव या नियंत्रण से शांति स्थापित करती है। पूर्ण संघर्ष शमन इसके द्वारा संभव नहीं है। इसलिए इसका उद्देश्य प्रायः हिंसा को रोकना ही रहता है, और सैनिक मामलों से जुड़े हुए व्यक्ति ही इसमें कार्य करते हैं। यह प्रायः संयुक्त राष्ट्र के नियंत्रण में ही संचालित होती है जिसमें विभन्न राष्ट्रों के सैनिक एक साथ मिलकर कार्य करते हैं।

कोई भी राष्ट्र सामान्य परिस्थितियों में शांति सेना को नहीं बुलाता। बाध्यता के समय ही शांति सेना को बुलाना पड़ता है क्योंकि वह सदैव संघर्षरत नहीं रह सकता। मेहमान राष्ट्र इसमें हिस्सा न तो मेजबान राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए लेते हैं, न ही संयुक्त राष्ट्र के दबाव से बल्कि वे राजनैतिक स्तर पर स्वयं को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं अथवा संयुक्त राष्ट्र में अपनी भागीदारी को प्रभावी बनाना चाहते हैं। संयुक्त राष्ट्र का तो यह दायित्व ही है कि वह संघर्षरत राष्ट्रों को संघर्ष करने से रोके, विश्व शांति के लिए प्रयत्न करे। सुरक्षा परिषद् के अनुच्छेद 43 व 45 में कहा गया है कि सुरक्षा परिषद् किसी भी राष्ट्र की न्योयाचित मांग पर सशस्त्र सेनाएं तथा अन्य सुविधाएं उपलब्ध करवायेगा।

इसके ऐतिहासिक कार्यों में—कांगो संकट के समय बेल्जियम की सेनाओं के लौट जाने के बाद भी संयुक्त राष्ट्र शांति सेना वहां इसलिए रही थी कि कहीं कांगो का गृहयुद्ध विश्वशांति के लिए खतरा न बन जाए। स्वेज नहर विवाद के समय भी यह शांति सेना वहां अवस्थित रही थी ताकि ब्रिटेन, फ्रांस व इजराइल की सेनाओं का पुनः सामना न हो। वर्तमान में फिलीस्तीन में यह शांति सेना कार्यरत है। इस शांति सेना के लिए शांति कायम रखने की संभावित स्थितियां तभी बन सकती हैं जब समस्या किसी महाशक्ति से जुड़ी न हो तथा विश्व युद्ध का खतरा बन जाए।

अतः स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि शांति सेना जो अपने प्रारंभिक काल में अहिंसा तथा संघर्ष शमन का पूर्ण व्रत लेकर चली थी आज यह व्रत खंडित हो गया है। शांति सेना नामकरण वही है पर कार्यों में बदलाव आ गया है। अपेक्षा है शांति सेना अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करे।

आर्थिक समस्याओं का समाधान : विसर्जन

वर्तमान युग अर्थप्रधान युग है। अर्थ के बिना न जीवन चलता है, न समाज बनता है और न समाज चलता है। दुनिया में जो कुछ घटित हो रहा है और जो कुछ चल रहा है, वह अर्थ के सहारे चल रहा है। "अर्थस्य पुरुषौ दासः" यह उक्ति पूर्णतया चरितार्थ हो रही है।

हर प्राणी में कुछ मौलिक मनोवृत्तियां होती हैं। मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियों में से एक है—संग्रह की वृत्ति। अर्थात् जो कुछ उसे प्राप्त है उसका वह संग्रह करना चाहता है। यह संग्रह आवश्यकता पूर्ति के लिए ही होता तो शायद विसर्जन के विचार की अपेक्षा ही नहीं होती, मनुष्य में संग्रह की मनोवृत्ति इसलिए बनी क्योंकि उसे आश्वासन नहीं है अर्थात् उसे भविष्य की चिंता है। यदि उसे भविष्य का आश्वासन मिल जाए तो संभव है संग्रह का आधार टूट जाए। किंतु ऐसी कोई सुदृढ सामाजिक व्यवस्था नहीं है, जो व्यक्ति को भविष्य का आधार दे सके। वर्ग विभेद, असमानता और विषमता दूर करने के लिए तथा भविष्य की सुरक्षा की दृष्टि से साम्यवाद सामने आया। साम्यवादियों ने कहा—व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर देना चाहिए। अर्थ किसी व्यक्ति का न होकर राष्ट्र का रहे। व्यक्तिगत स्वामित्व की समाप्ति ही हजारों वर्षों से चली आ रही विषमता एवं वर्ग भेद की समस्या का एकमात्र समाधान हो सकता है। पर इससे व्यक्ति की मनोवृत्ति को नहीं बदला जा सका। निजी स्वामित्व न होने के कारण कार्य की प्रेरणा नहीं रही। परिणामतः उत्पादन घट गया। आर्थिक स्थिति लड़खड़ाने से आज सोवियत रूस की स्थिति किसी से छिपी नहीं है।

धर्म के क्षेत्र से एक दूसरा विचार आया—अपरिग्रह का, असंग्रह का, जिसका संबंध भगवान् महावीर से है। उन्होंने यह सूत्र इस आधार पर नहीं दिया कि समाज की व्यवस्था, जो कि विषमतापूर्ण है, वह समाप्त हो जाए। उन्होंने इसका आधार यह बतलाया कि अर्थ का संग्रह करने वाला व्यक्ति अधिक स्वार्थी और क्रूर बन जाता है। और यह सच भी है कि मैत्री, अहिंसा, दया और करुणा का प्रवाह जिस व्यक्ति में होता है, वह बहुत बड़ा संग्रह नहीं कर सकता। वह दूसरों का दमन और शोषण नहीं कर सकता, अतः अहिंसक व्यक्ति बहुत बड़ा परिग्रही नहीं बन सकता।

अहिंसा और असंग्रह दोनों साथ-साथ चलते हैं। जबकि हिंसा का संबंध संग्रह से है। इसलिए विसर्जन का संबंध जितना संग्रही व्यक्ति से है उतना अपरिग्रही व्यक्ति से नहीं।

विसर्जन : अर्थ और दृष्टिकोण

1. अर्जन के गलत तरीकों को छोड़ना

विसर्जन का अर्थ केवल छोड़ना नहीं है, संपत्ति का त्याग करना नहीं है बल्कि उससे भी अधिक सूक्ष्म है। किसी व्यक्ति ने यदि अर्जन के गलत तरीकों को छोड़ दिया तो क्या उस व्यक्ति ने विसर्जन नहीं किया है? उस व्यक्ति ने निश्चित ही बहुत बड़ा विसर्जन किया है। भगवान् महावीर ने कभी नहीं कहा कि अर्जन मत करो, व्यापार मत करो। क्योंकि यह अव्यवहारिक है। जहां समाज है वहां अर्जन करना ही पड़ेगा। पर भगवान् महावीर ने कहा—अर्जन में जो दोष है उनको छोड़ दो। उन्होंने कहा—किसी भी आजीविका का विच्छेद मत करो, दूसरों के अधिकारों का हनन मत करो, धोखा मत दो। अर्थात् जितने व्यवसायिक दोष थे, उनका निषेध किया किंतु व्यापार का निषेध नहीं किया। इसलिए इस अर्जन के साथ विसर्जन का प्रयोग सन्निहित था।

2. संग्रह के साथ विसर्जन

संग्रह के साथ विसर्जन का तात्पर्य है—अपने व्यक्तिगत स्वामित्व को सीमित करना। जिस व्यक्ति ने वर्ष भर में एक लाख अर्जित किया और उसने पचास हजार का त्याग कर दिया, विसर्जन कर दिया अर्थात् अपने स्वामित्व को सीमित कर लिया। या किसी व्यक्ति के पास पहले से बहुत'संपत्ति है और वह यह सोचकर अपनी संपत्ति का विसर्जन कर देता है कि मुझे इसका संग्रह नहीं करना चाहिए। यह भी व्यक्तिगत स्वामित्व को सीमित करना है।

3. व्यक्तिगत उपभोग का सीमांकन

व्यक्तिगत उपभोग का सीमांकन करना भी विसर्जन है। कोई व्यक्ति अपनी संपत्ति को छोड़ नहीं रहा है, लेकिन वह उस संपत्ति के उपभोग का सीमांकन कर लेता है कि इतनी संपत्ति से अधिक का उपयोग मै नहीं करूंगा। उसने दिया कुछ नहीं, पर व्यक्तिगत भोग की सीमा निर्धारित कर दी। यह भी एक प्रकार का विसर्जन है क्योंकि धन के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है, वही समस्या है। यही दृष्टिकोण शोषण करता है, अपराध करता है, गलत साधनों से अर्जन करता है। यदि वस्तु के पीछे केवल जीवनयापन का दृष्टिकोण जुड़ जाए तो वह वास्तव में असंग्रह है, अपरिग्रह है। शुद्ध अर्थ में जिस व्यक्ति ने अर्थ से अपने ममत्व को हटा लिया, उसे मात्र वस्तु माना, जीवन यापन का साधन माना, उसके लिए वह मात्र वस्तु ही रह गई, अर्थ नहीं रहा, धन नहीं रहा। वस्तु अचेतन है, पुद्‌गल है। इसके संग्रह को परिग्रह नहीं कहा जा सकता। वस्तु परिग्रह तब बनती है जब हमारे हृदय में उस वस्तु के प्रति आसक्ति जन्म ले लेती है। यह आसक्ति परिग्रह है और यही आसक्ति क्रूरता को जन्म देती है।

दान और विसर्जन

दान वास्तव में उस समाज की व्यवस्था का अंग है जो बहुत

त्रुटिपूर्ण समाज-रचना को लेकर चलता है। दान में हमेशा देने वाला और लेने वाला—दो पक्ष रहते हैं। जिसमें एक पक्ष के अहं का पोषण होता है और दूसरे पक्ष में हीन-भावना का पोषण। जहां समानता के अधिकार, कर्त्तव्य की बात है, वहां दान के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। अपने ही भाइयों को हीन भावना में रखकर उनकी हीनता को पोषण देना, क्या सभ्य समाज में मान्य हो सकता है?

विसर्जन दान नहीं है। विसर्जन है—अपने संग्रह, अपने अर्जन और अपने व्यय की स्वस्थ पद्धतियों का स्वीकरण। अर्जन में दोषपूर्ण पद्धतियों को छोड़ना, संग्रह को छोडना और वर्तमान की परिस्थितियों के संदर्भ में स्वयं को अधिक सामाजिक रूप में ढालना—यही है विसर्जन। विसर्जन त्याग है, ममत्व व आसक्ति को छोड़ना है, संग्रह को छोड़ना है और अपनी वृत्तियों को सामाजिक बनाना है।

क्या विसर्जन के साथ अर्जन उचित है?

विसर्जन के साथ अर्जन के औचित्य को भगवान् महावीर के इस चिंतन में देख सकते है—भगवान् महावीर ने असंग्रह पर बहुत बल दिया किंतु उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि इतने धन से अधिक मत रखो। उन्होंने कहा—तुम्हारे अर्जन के साधन शुद्ध होने चाहिए तथा व्यक्तिगत जीवन में सयम होना चाहिए। अगर ये दो बातें व्यक्ति के जीवन में है तो फिर कितना धन आता है, कितना नहीं आता है, इसकी चिंता करने की जरूरत नहीं है।

संग्रह शब्द सापेक्ष है। संग्रह का जो मूल दोष है, वह है—उत्पादन के गलत तरीके और व्यक्तिगत जीवन में असयम, लालसा, विलासिता और उच्छृंखलता। अगर ये दोष मिट जायें तो एक करोड़पति को भी संग्रही नहीं कहा जा सकता। भगवान् महावीर ने एक चक्रवर्ती सम्राट और एक कोशीय प्राणी के संग्रह को समान बतलाया है। उन्होंने कहा है—परिग्रह की भावना का दोनों ने विसर्जन नहीं किया

है, इसलिए दोनों परिग्रही हैं। इसलिए परिग्रह का मूल है—हमारी ममत्व भावना, न कि वस्तु का संग्रह। इसलिए विसर्जन के साथ अर्जन किया जा सकता है बशर्ते उसके प्रति ममत्व न हो तथा अर्जन के साधन शुद्ध हों।

विसर्जन और वितरण

धन को, संग्रह को छोड़ने की प्रेरणा जागती है और जब धन छोडा जाता है तब उसे विसर्जन कहा जाता है। विसर्जन के बाद वितरण हो भी सकता है और नहीं भी। बुद्ध ने राज्य का विसर्जन किया, पर बाद की व्यवस्था नहीं की। कई संपत्ति छोडते हैं और उसकी व्यवस्था भी कर देते हैं। विसर्जन के बाद इसलिए वितरण आवश्यक है कि उस संपत्ति का प्रयोग पवित्र उद्देश्य के लिए हो। जो वितरण की बात नहीं मानते, उनका तर्क यह है कि विसर्जन कर संपत्ति का ममत्व ही जब छोड दिया है तो फिर उसके सही और गलत उपयोग की चर्चा कैसी? पर विसर्जन के बाद उचित वितरण समाज की दृष्टि से ज्यादा व्यावहारिक है।

वर्तमान में विषमता की समस्या के समाधान का आध्यात्मिक सूत्र है—विसर्जन। विसर्जन हमें यह बतलाता है कि सब लोग इस बात को समझें कि अधिक संग्रह करना किसी के पक्ष में नहीं है। जो आर्थिक समस्याएं हिंसा पैदा कर रही है, उनका समाधान विसर्जन में खोजा जा सकता है। विसर्जन का पूरा विकसित रूप तो उस दिन सामने आएगा, जिस दिन एक व्यक्ति इतना अर्जन ही नहीं करेगा कि वह देने की स्थिति में हो।

विसर्जन का पहला चरण होगा ममत्व का विसर्जन और दूसरा चरण होगा व्यवस्था सुधार। यदि ममत्व विसर्जन हो जाए तो व्यवस्था सुधार में कोई कठिनाई नहीं होगी। विसर्जन के सूत्र ने वर्तमान व्यवस्था में धर्म व आध्यात्म के द्वारा, असंग्रह के द्वारा क्या किया जा सकता है, इस ओर इंगित किया है। यदि विश्व विसर्जन की बात ठीक तरह से समझ ले तो हिंसक क्रांति के द्वारा जो परिवर्तन

हम लाना चाहते हैं, वह सहज मृदुतापूर्ण एवं अहिंसक ढंग से किया जा सकता है।

विसर्जन इस सारे संकट का एक आदर्श समाधान है। एक व्यक्ति, एक राष्ट्र अपनी आवश्यकता से अधिक संपत्ति का विसर्जन करे, भोग का सीमांकन करे तथा इस विसर्जन का वितरण अविकसित राष्ट्रों व गरीब व्यक्तियों में किया जाए तो निश्चित ही कुविकास की जगह संतुलित विकास संभव हो सकता है। शांति स्थापना को बल मिल सकता है।

पर्यावरण
एवं
निःशस्त्रीकरण

पर्यावरण : आध्यात्मिक दृष्टिकोण (वैदिक, बौद्ध और जैन दृष्टि)

पर्यावरण

हम उस पर्यावरण में रहते हैं जो हमारे लिए अनुकूल है। हम एक विशेष पर्यावरण में ही रह सकते हैं। पाषाण युग के लोग अपने पर्यावरण में रहते थे। शारीरिक दृष्टि से कोई विशेष अन्तर न होने पर भी हम उस पर्यावरण में रहने की नहीं सोच सकते। हम केवल पृथ्वी पर रह सकते हैं। मंगल, गुरु आदि दूसरे ग्रहों में नहीं रह सकते। इन दोनों स्थितियों में अस्तित्व और अन-अस्तित्व की स्थितियां भिन्न-भिन्न हैं। यद्यपि वे दोनों स्थितियां समान नहीं हो सकतीं पर वे पर्यावरण का हिस्सा है।

हमारी प्रथम प्राथमिकता हमारा अस्तित्व है। यदि हमारा अस्तित्व ही नहीं है तो सारी चीजें स्वतः ही समाप्त हो जाती है। हमें हमारे अस्तित्व के लिए, श्वास लेने के लिए ऑक्सीजनयुक्त हवा चाहिए, पीने के लिए पानी चाहिए और खाने के लिए भोजन चाहिए। इसलिए हमें एक ऐसा पर्यावरण चाहिए जो हमें ऑक्सीजन युक्त हवा, पानी व ऐसा भोजन दे जिसका पाचन हम आसानी से कर सकें। हमारा अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है यदि ये चीजें न हों या प्रदूषित हों। इस बाह्य वातावरण का संरक्षण कई घटकों पर निर्भर करता है। उनमें से एक घटक है—आध्यात्मिक—जो हमें सही ढंग से मार्गदर्शित करता है तथा ऐसी आदतें विकसित करने में सहयोग करता है जिससे पर्यावरण का संरक्षण हो सके।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारे रहने के तरीकों में पर्यावरणीय परिवर्तन हुआ है, हमारी इच्छाएं बढ़ी हैं तथा हमारी आदतें बदली है। प्रत्येक क्षण, प्रत्येक दिन हम धीरे-धीरे बदलते रहते हैं, यद्यपि हम उसका अनुभव नहीं करते। यह परिवर्तन विकास का एक अंग है जो प्राकृतिक कानून द्वारा संचालित है। समग्र रूप से वह प्रत्येक वस्तु जिसे हम चाहते हैं, पर्यावरण का एक हिस्सा है। यदि हमारी आदतें खराब है तो वह पर्यावरण का सामाजिक प्रदूषण है जबकि हमारी अच्छी आदतें पर्यावरण की शुद्धि करती हैं। हमारी आदतों को अधिकांशतः अध्यात्मवाद नियंत्रित करता है भले ही वह भय के कारण हो या आस्था के कारण या हमारे भले-बुरे के ज्ञान के कारण। समाज विज्ञान का यह पहलू स्वस्थ समाज के निर्माण में सहयोगी है। यदि ऐसे स्वस्थ समाज का निर्माण होता है तो यह स्वस्थ जीवन के लिए ऐसा पर्यावरण देगा जो शारीरिक व सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप होगा।

वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार अध्यात्मवाद समाज विज्ञान का एक अंग है, जिसमें सामाजिक न्याय आदि भी सम्मिलित हैं। हमारी शिक्षा प्रणाली जो सांस्कृतिक पर्यावरण को जन्म देती है, वह भी आध्यात्मिक व धार्मिक संस्थाओं का एक अंग है। आर्थिक स्थितियां जो विभिन्न क्रांतियों के द्वारा सामाजिक पर्यावरण का निर्माण करती हैं, वे भी अध्यात्मवाद के अंग है। इसलिए अध्यात्मवाद के भी अनेक पहलू है जो पर्यावरण को बना भी सकते है और नष्ट भी कर सकते है। अत. पर्यावरण के लिए आध्यात्मिक दृष्टि का अध्ययन महत्त्वपूर्ण हो जा... है।

1. पर्यावरण—वैदिक आयाम

प्राचीनतम साहित्य में वेदों का स्थान सर्वोपरि है। वेद प्रकृति की पूजा से प्रारंभ होते है। वेदों में अनेक विचार परस्पर विरोधी पाये जाते है क्योंकि वेद किसी एक व्यक्ति का लेखन नहीं अपितु अनेक ऋषियों का समन्वित लेखन है। हम वेदों में वर्ग-विहीन समाज

रचना का सिद्धान्त पाते हैं, साथ ही जाति व्यवस्था को भी। लेकिन सामाजिक क्रम और पर्यावरण का मुख्य सिद्धान्त प्रकृति में एक जैसा है। प्रकृति से ही वेदों का प्रारंभ है।

आवश्यकतानुसार देवताओं की स्वीकृति—

जब पूजा का सिद्धान्त प्रारंभ हुआ तब सूर्य एक मात्र देवता था। सामाजिक आवश्यकताएं बदलती हैं तो समाज में भी परिवर्तन होते हैं। इसी आधार पर देवता के रूप में पृथ्वी, वातावरण और अंतरिक्ष के देवता का विचार आया। सूर्य अंतरिक्ष का प्रमुख देवता है जबकि वातावरण का इन्द्र तथा पृथ्वी का अग्नि। यदि हम थोड़ा और ध्यान दें तो हम पायेंगे कि ये देवता हमारी आवश्यकताओं के अनुसार माने गये। हम सूर्य के बिना नहीं रह सकते और प्राचीन समय में तो सौर ऊर्जा ही एक मात्र शक्ति का स्रोत था। इसलिए सूर्य प्रमुख देवता बना। जब सभ्यता का विकास हुआ तो हमें कृषि की जरूरत हुई और कृषि के लिए वर्षा ही एक मात्र स्रोत था, इस हेतु इन्द्र देवता की प्रतिष्ठापना हुई। जब हमने पकाना सीखा तो हमें अग्नि की अपेक्षा हुई, इसलिए अग्नि को देवता के रूप में देखा गया। समय बीतने के साथ हमारी आवश्यकताएं भी बढ़ती गईं और हम अपनी आवश्यकता के अनुरूप उनके प्रतिनिधित्व के रूप में देवताओं को भी स्वीकार करते रहे। अंतिम रूप में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की स्वीकृति हुई जो क्रमशः सृष्टि या निर्माण कार्य, प्रशासनिक कार्य एवं संहार कार्यों के प्रतीक हैं। वैदिक साहित्य में यह विकास हमारी प्राकृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप वर्णित है।

सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान का व्यावहारिक पक्ष अथर्ववेद में है। यह सत्य है कि मोक्ष अंतिम उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ और काम है। इन तीनों के सामाजिक क्रम के अनुरूप संचालन के लिए आत्म संयम और कई अन्य मर्यादाएं वर्णित की गई हैं। इसके साथ ही अथर्ववेद हमारी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी मार्ग निर्देशित करता है। यह कृषि, सिंचाई, भोजन बनाने, आत्म-संयम,

शहरी और ग्रामीण विकास, परिवार व्यवस्था, सामान्य प्रशासन, राजनीति, युद्ध, पशु विज्ञान, आयुर्विज्ञान आदि से संबंधित महत्त्वपूर्ण जानकारी देता है। इसके अतिरिक्त यह हमें मैस्मेरिज्म, सम्मोहन, आत्म-सम्मोहन, मानसिक स्वास्थ्य आदि से संबंधित भी जानकारी देता है।

यह भी विश्वास किया जाता है कि सभी भौतिक प्राणी और पदार्थ पंचभूतों से बने हैं। इन मूलभूत पंचभूतों का कुल योग कभी भी परिवर्तित नहीं होता है केवल इनके अंशों में परिवर्तन होता रहता है। इसलिए यह कहा गया है कि कोई भी पदार्थ पूर्णतः नष्ट और निर्मित नहीं होता, केवल परिवर्तित होता रहता है। इसलिए विश्व का पदार्थ सत्, रज् या तम अर्थात् संतुलित, गतिज और स्थैतिक इन तीनों में से किसी एक अवस्था में रहता है जो आधुनिक विज्ञान के अनुरूप भी है।

अतः वेदों के अनुसार पर्यावरण की व्यवस्था मूलतः भौतिक व्यवस्था है जिसे प्रकृति पूजा के रूप में आध्यात्मिक रूप दिया गया है। यह व्यवस्था मांग व आवश्यकता के अनुरूप बदलती रहती है। जैसी स्थितियां होती है, हम पदार्थो का परिवर्तन तदनुरूप ही कर लेते है।

पर्यावरण पर गीता का दृष्टिकोण—

वैदिक साहित्य में गीता का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है, जो निष्काम कर्म करने की शिक्षा देती है। मनुष्य सोचता है कि वह कार्य कर रहा है, जो कि भ्रांत धारणा है। वास्तव में तो वह एक माध्यम है और कार्य पुरुष के माध्यम से प्रकृति के द्वारा किया जाता है। सामान्य परिस्थितियों में एक सामान्य व्यक्ति प्रकृति के नियंत्रण के बाहर नहीं जा सकता, ऐसा वह मोक्ष प्राप्त करके ही कर सकता है। अतः किसी की प्राप्ति के लिए उसे अपने आप को प्रकृति के सुपुर्द कर देना चाहिए।

मनुष्य प्रकृति का एक अंग है, अतः प्रकृति को नष्ट करना उसे नष्ट करना है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से जो प्रकृति है वह हमारे

दृष्टिकोण से पर्यावरण है। इसलिए पर्यावरण को दूषित करना मनुष्य के स्वयं को नष्ट करने के समान है। यहां पर्यावरण का तात्पर्य केवल भौतिक या बाह्य पर्यावरण से ही नहीं है बल्कि सामाजिक पर्यावरण से भी है। पर्यावरण शुद्धि केवल परिस्थिति के संतुलन पर ही निर्भर नहीं है बल्कि सामाजिक गलत कार्यों को भी बन्द करना चाहिए। जब-जब समाज में ऐसे अधर्म या गलत कार्य बढ़ते हैं तब प्राकृतिक विकास के रूप में महा-मानव जन्म लेते हैं ताकि पर्यावरण को शुद्ध कर सकें। यहां तक कि सामाजिक पर्यावरण-तंत्र की शुद्धि के लिए युद्ध भी प्राकृतिक विकास का एक अंग है। इसी तरह से बाह्य पर्यावरण जिसमें पेड़ पौधे, पशु आदि जो प्रकृति का हिस्सा है, उनका भी संरक्षण होना चाहिए।

अतः गीता ने प्राकृतिक कानून को स्पष्ट रूप से वर्णित किया है जो वैज्ञानिक भी है।

पर्यावरण—बौद्ध दृष्टि

बौद्ध दर्शन के त्रिपिटकों—विनय पिटक, सुतपिटक व अभिधम्मपिटक में से अभिधम्मपिटक में जीवन के विभिन्न पहलुओं, पदार्थों और पर्यावरण पर चर्चा उपलब्ध है। अभिधम्मपिटक में धातु कथा खण्ड में पदार्थों का वैज्ञानिक विश्लेषण उपलब्ध है।

बौद्ध दर्शन का ध्येय सामाजिक पर्यावरण का संरक्षण है। इस हेतु वह अहिंसा-करुणा पर बल देता है। यहां अहिंसा का यह अर्थ नहीं है कि हमें एक पेड़ को नहीं काटना चाहिए या एक पशु का वध नहीं करना चाहिए बल्कि हमें ऐसा तभी करना चाहिए जब ऐसा करना निरपेक्ष दृष्टि से आवश्यक हो गया हो। लोभ के लिए शोषण कभी भी स्वीकार्य नहीं हो सकता क्योंकि लोभ या तृष्णा ही एक मात्र हिंसा का कारण है। इसी तरह वह समाज जो आत्मनिर्भर है समाज के प्रत्येक व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाने का प्रयत्न करे। ऐसी स्थिति में पर्यावरण संरक्षण स्वतः ही रहेगा और ऐसा होने पर आधुनिक विकास सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप होता रहेगा।

बौद्ध दर्शन में शरीर, वचन और मन—ये तीन प्रकार की प्रवृत्तियां मानी गई हैं। इनमें मानसिक प्रवृत्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि कर्म का अर्थ ही किया गया है—इच्छाशक्ति। इस दृष्टि से कोई भी ऐसी इच्छा जो स्वयं की हानि करे, दूसरों की हानि करे या दोनों की हानि करे—अकुशल है। सामाजिक पर्यावरण की दृष्टि से यह सूत्र महत्त्वपूर्ण है कि हम केवल दूसरों को ही कष्ट न दें पर स्वयं को भी किसी प्रकार की हानि न पहुंचायें। इस दृष्टि से व्यक्तिगत गलत कार्य जैसे लोभ, संग्रह आदि सामाजिक पर्यावरण के लिए घातक है क्योंकि ये अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक ढांचे को तोड़ते हैं।

बौद्ध दर्शन मानवीय दु:खों से छुटकारा पाने का मार्ग बताता है। किसी भी धर्म में यह होना ही चाहिए कि किसी भी प्राणी के दुःख और दुर्भाग्य के क्षणों में हम उसके प्रति करुणा रखें। यदि ऐसी प्रवृत्ति विकसित होती है तो हम दूसरों के प्रति एवं प्रकृति के प्रति क्रूर नहीं बन सकते। दूसरों को कष्ट में पडा हुआ नहीं देख सकते। बौद्ध दर्शन की यह दृष्टि है कि हर प्राणी जो दूसरों से विशिष्ट है वह अपने से निम्न प्राणियों के प्रति करुणा रखे। इसमें पशु, पक्षियों,पेड-पौधों आदि के प्रति भी करुणा की दृष्टि समाविष्ट है। यह करुणा भले ही अशोक की तरह सामाजिक हो या बुद्ध की तरह आध्यात्मिक हो। ये दोनों ही रूप समस्त प्राणियों के प्रति करुणा की बात करते हैं।

बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि व्यक्ति में क्रूरता तृष्णा के कारण आती है। वैसे भी सामाजिक-आर्थिक हिंसा में तृष्णा ही महत्त्वपूर्ण कारण बनती है। बौद्ध दृष्टि के अनुसार जब तक मनुष्य इस तृष्णा पर काबू नहीं पा लेता तब तक वह न तो पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूक हो सकता है और न परम शांति तक ही पहुंच सकता है। तृष्णा उसे सामाजिक व आर्थिक अपराध करने के लिए प्रेरित करती है वहीं वह प्रकृति का अंधाधुंध दोहन कर प्रकृति के पर्यावरण को भी असंतुलित करती है। इसलिए बुद्ध सर्वप्रथम तृष्णा को वश में करने की बात करते है ताकि सामाजिक व प्राकृतिक पर्यावरण का संरक्षण हो सके।

पर्यावरण—जैन दृष्टि

सम्पूर्ण प्रकृति लयबद्ध तरीके से चल रही है। कुछ लोग इस गतिमयता के पीछे ईश्वर का हाथ मानते हैं पर जैन दर्शन ईश्वर कर्तृत्व में विश्वास नहीं करता। जैन दर्शन के अनुसार संसार में सब कुछ अपने प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही हो रहा है। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो इस प्राकृतिक व्यवस्था को लांघकर अपने असंयम से या वैज्ञानिक प्रगति के नाम पर कुछ ऐसा प्रयत्न कर रहा है जिससे इस सहज संतुलन के बिगड़ने का खतरा पैदा हो रहा है। हो सकता है मनुष्य का यह अतिक्रमण किसी भावी प्राकृतिक समीकरण-संरचना की ही एक कड़ी हो, पर क्या ऐसा भी संभव नहीं है कि मनुष्य किसी संभाव्य को असयम में ही घटित होने के लिए आमंत्रित कर रहा हो।

जैन-धर्म जीवन का अस्तित्व केवल मनुष्यों, पशुओं या कीड़े-मकोड़ों में ही नहीं मानता, अपितु पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा तथा वनस्पति—इन पंचभूतों में भी उसका अस्तित्व स्वीकार करता है। वास्तव में जीवन की यह सूक्ष्म दृष्टि जैन दर्शन की अपनी एक विशिष्ट स्वीकृति है। इसलिए सूक्ष्म जीवन की हिंसा से बचने के लिए जैन धर्म ने जितना विचार किया है उतना अन्य किसी धर्म ने नहीं किया। प्रो. सी. एन. वकील ने अपनी पुस्तक—"इकोनॉमिक्स ऑफ काउप्रोटेक्शन" में कहा है—हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जैसे वनस्पति, पशु और वृक्ष आदि सजीव हैं, उसी प्रकार मिट्टी भी सजीव है। कोट्याकोटी अतिसूक्ष्म ऑर्गनिज्म मिट्टी में सदा क्रियारत रहते है। स्पष्ट है कि आज विज्ञान भी पृथ्वी आदि भूतों के बारे में जिस दृष्टि से विचार करने लगा है, उससे जैन की अहिंसा मान्यता को एक नया आयाम मिला है। यद्यपि जैन दर्शन जहां प्राणी विनाश की दृष्टि से अहिंसा पर विचार करता है वहां विज्ञान उस पर प्रदूषण की दृष्टि से विचार करता है।

भूमि प्रदूषण और पृथ्वीकायिक हिंसा—

अमेरिकन राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के अनुसार वायु, पानी, मिट्टी, पौधे, पेड़ और जानवर सभी मिलकर पर्यावरण और वातावरण की रचना

करते हैं। वे सभी घटक पारस्परिक संतुलन बनाये रखने के लिए एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। किसी एक के असंतुलन से समूचा पर्यावरण प्रभावित होता है। भगवान् महावीर ने कहा—विवेकी व्यक्ति हिंसा के परिणाम को जानकर स्वयं पृथ्वी शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाये तथा समारंभ करने वालों का अनुमोदन भी न करे। नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी संबंधी क्रिया में व्याप्त होकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करने वाला व्यक्ति केवल उन्हीं की हत्या नहीं करता अपितु नाना प्रकार से अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

उपरोक्त उद्धरणों में भगवान् महावीर ने पृथ्वीकाय की हिंसा का निषेध किया है। आज अनेक प्रकार के खनिज पदार्थों के लिए खासकर कोयले के लिए पृथ्वी का जबरदस्त दोहन किया जा रहा है। वैज्ञानिकों ने आशंका व्यक्त की है कि यदि इसी प्रकार पृथ्वी का दोहन होता रहा तो ये भण्डार कुछ ही समय में समाप्त हो जायेंगे। यदि यह दोहन बंद किया जाए तो खनिज तो बचेंगे ही पर प्रदूषण पर भी काबू पाया जा सकेगा। इस प्रकार पृथ्वीकाय की हिंसा केवल पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं है अपितु वातावरण का संतुलन भी गहरे अर्थ में प्रभावित होगा।

जल-प्रदूषण और अप्कायिक हिंसा—

पानी हमारे जीवन का एक मुख्य स्रोत है। पानी में पैदा होने वाली सूक्ष्म वनस्पति फायटोप्लैक्शन पृथ्वी पर 50 से 70 प्रतिशत तक प्राणवायु का उत्पादन करती है। जल प्रदूषण से अप्काय की हिंसा तो होती ही है पर वनस्पति, मछलियां यहां तक कि उसका प्रदूषण मनुष्य तक को प्रभावित करता है। भगवान् महावीर ने कहा—जल की यह हिंसा मनुष्य के अहित तथा अबोधि का कारण है। जल की हिंसा का तात्पर्य जल-प्रदूषण से है।

वायु-प्रदूषण और अग्निकायिक हिंसा—

वायु प्रदूषण आज के युग की एक ज्वलन्त समस्या है। एक अनुमान के अनुसार वायु प्रदूषण की यही गति रही तो अगले सौ

वर्षों में पृथ्वी पर कार्बनडाइआक्साइड की मात्रा दुगुनी हो जाएगी। परिणाम होगा—पृथ्वी का तापमान बढ़ जाएगा, ध्रुवों की बर्फ पिघलने से समुद्र का जल स्तर बढ़ जाएगा और विश्व के कई समुद्रतटीय महानगरों को समुद्र लील जाएगा।

जैन दर्शन के अनुसार वायु प्रदूषण अग्निकाय के जीवों के कारण है क्योंकि वातावरण में करोड़ों टन धुंआ, रेत आदि छोड़े जा रहे हैं। महावीर ने कहा—अग्नि के जीवों को पीड़ित करना स्वयं अपने को ही उत्पीड़ित करना है। निश्चय ही अग्निकाय की इस विनाशलीला को जानने वाला संयमित जीवन जीने लगता है और जो असंयमित है वे जानते हुए भी इस विनाशलीला से अनजान है।

ध्वनि-प्रदूषण और वायुकायिक हिंसा—

भगवान् महावीर ने कहा—जो सत्य को जानता है, वही मौन को जानता है और जो मौन को जानता है, वही सत्य को जानता है। अधिकांश व्यक्ति शब्द-शक्ति को जानते नहीं। पर आज यह स्पष्ट हो गया है कि शब्द या ध्वनि मनुष्य के लिए कितनी घातक भी हो सकती है। ध्वनि-प्रदूषण आज के युग की एक महत्त्वपूर्ण समस्या बन गयी है। प्रतिवर्ष दस-प्रतिशत की दर से बढने वाली इस ध्वनि पर यदि नियंत्रण नहीं हुआ तो वैज्ञानिक अनुमान करते है कि अगले कुछ दशकों में मानवजाति के बहरे होने का खतरा पैदा हो जाएगा।

वनों की कटाई और वनस्पतिकायिक हिंसा—

वनस्पतिकाय की हिंसा अर्थात् वनों की अंधाधुंध कटाई से अनेकविध दुष्परिणाम तो अत्यन्त स्पष्ट हैं। एक ओर तो इससे प्राणवायु का नाश हो रहा है, दूसरी ओर भूक्षरण को बढावा मिल रहा है तथा भूमि बंजर होती जा रही है। वर्षा के अनुपात में भी अंतर आ रहा है तथा वन-जीवों का विनाश भी तेजी से हो रहा है।

भगवान् महावीर ने कहा—वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा केवल वनस्पतिकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं है अपितु नाना प्रकार

के अन्य जीवों की भी हिंसा है। उन्होंने कहा—वर्तमान जीवन के लिए जो व्यक्ति वनस्पति की हिंसा करता है या दूसरे से करवाता है या करने का अनुमोदन करता है तो वह हिंसा मनुष्य जाति के अहित के लिए है। वनस्पतिकाय की हिंसा जीवन नहीं, मृत्यु है।

अतः भगवान् महावीर सभी जीवों के प्रति संयम अर्थात् करुणा के प्रवर्तक थे। उनके प्रवचन का उद्देश्य था—संसार के सभी तत्त्व अपनी-अपनी स्थिति में रहें। किसी का कोई नुकसान न करे। कोई किसी को बाधा न पहुंचाये। किसी का अस्तित्व बाधित न हो। संसार के सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। जो स्वयं जीने के इच्छुक हैं वे दूसरों को मारने या नष्ट करने की बात कैसे सोच सकते हैं ? इसलिए यदि मनुष्य में संयम की प्रवृत्ति विकसित की जाए तो प्रदूषण रोका जा सकता है। संयम ही जीवन है, असंयम मृत्यु है। यह बात यदि व्यक्ति के विचार और आचरण से जुड जाए तो पर्यावरण असंतुलन की समस्या का निराकरण संभव है।

पर्यावरण पर केवल जीवशास्त्रीय विवेचन ही पर्याप्त नहीं, उसका आध्यात्मिक विवेचन भी आवश्यक है। पर्यावरण पर आध्यात्मिक दृष्टि की स्पष्टता के बिना पर्यावरण संरक्षण संभव नहीं हो सकेगा। प्रायः सभी धर्म दर्शनों ने किसी न किसी रूप में प्रकृति संरक्षण की बात कही है, जिसे पर्यावरणीय चिंतन ही कहा जाएगा। पर्यावरण में प्रकृति संरक्षण आंशिक दृष्टि है, जबकि समस्त सामाजिक, आर्थिक गलत कार्यों व आदतों पर नियंत्रण भी आवश्यक है, इस हेतु आध्यात्मिक दृष्टि अत्यावश्यक है। आध्यात्मिक दृष्टि यह प्रतिपादित करती है कि मनुष्य की अनन्त इच्छाएं अर्थात् असंयम ही पर्यावरण प्रदूषण के लिए जिम्मेदार है, इसलिए असंयम पर अंकुश आवश्यक है।

पृथ्वी की सुरक्षा पर मंडराते खतरे के बादल

प्रकृति से छेड़छाड़, रासायनिक बहिस्राव, परमाणविक व औद्योगिक कचरा, तेजाबी वर्षा और वायुमण्डल में सतत बढ़ रही कार्बनडाइआक्साइड के परिणाम स्वरूप मनुष्य के समक्ष अभूतपूर्व संकट उठ खड़ा हुआ है।

मानव सभ्यता की कहानी प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन की कहानी है। जब से मनुष्य ने सुमेरिया, मिश्र और सिंधु घाटी की महान सभ्यताओं को जन्म दिया तब से वह प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध किसी न किसी संघर्ष में जुटा हुआ है। औद्योगिक क्रांति ने प्रकृति पर मानव की विजय को भी साबित कर दिया। फिर भी उसके विकास के चरण रुके नहीं। उसने पर्यावरण की जटिलताओं को भली प्रकार समझे बिना स्वार्थ-पूर्ति हेतु प्रकृति की व्यवस्था में व्यापक रूप से हस्तक्षेप शुरू कर दिया। खाद्यान्नों की पूर्ति हेतु कृषि-कार्य के लिए जंगल के जंगल काट डाले तथा विशाल सिंचाई योजनाओं की रूपरेखा तैयार की ताकि फसलों को निर्बाध रूप से जल उपलब्ध होता रहे। प्राचीनकाल के लोग इस तथ्य से अवगत थे कि आवश्यकता से अधिक फसल उगाने और चराई करने से मृदा का क्षरण होता है, पर तथाकथित सभ्य लोग इस सच्चाई को जानते हुए भी सावधान नहीं हुए। परिणाम उस मलबे के ढेर के रूप में देख सकते हैं जो हमारी महान सभ्यताएं पीछे छोड़ गई हैं। प्राचीन सुमेरिया (आधुनिक ईराक) महान बेबीलोनियाई सम्राज्य का खलिहान था, इसके परिदृश्य में आज टीले नजर आते है, जो विस्मृत शहरों के प्रतीक हैं।

सिंचाई व अन्य कार्यों के लिए भूमिगत जल के अधिक उपयोग का परिणाम खारापन है क्योंकि भूमिगत जल का स्तर उसके

अत्यधिक उपयोग के कारण नीचा हो जाता है। मेक्सिको, अमेरिका के बहुत से भाग, भारत, चीन और पश्चिमी-पूर्वी एशिया में ऐसे बहुत से क्षेत्र हैं। इन कटु अनुभवों के बावजूद भी दुनिया भर में भूमिगत जल का अंधाधुंध प्रयोग जारी है।

औद्योगीकरण के पश्चात् प्राकृतिक संसाधनों का दोहन भी चरम सीमा पर पहुंच गया है। यही कारण है कि कोयला और तेल दोनों समाप्ति के कगार पर हैं। आधुनिक विश्व ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों के बारे में तेजी से विचार रहा है। हमारे वर्तमान खनिज तथा ईधन के भण्डारों को जमा करने में प्रकृति को लाखों वर्ष लगे हैं पर इन्हें समाप्त करने में चन्द शताब्दियां ही लगेंगी। लुटेरे और परभक्षी के रूप में हम अन्य सभी प्राणियों से आगे है। आने वाली कई पीढियों के खनिजों का दोहन हमने कर लिया है। हम स्वयं को निर्माता और चिंतक मानते है। हमारे द्वारा किया गया निर्माण, हमारी अंधाधुंध नष्ट करने की क्षमता की तुलना में बहुत ही नगण्य है। चतुर मनुष्य अपने ही घर को, अपने ही वंशजों को बर्बाद करने में लगा है। कोई पक्षी भी अपने नीड़ को यों बरबाद नहीं करता। इथियोपिया इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। सत्तर के दशक में वह अकाल और भूखमरी की गिरफ्त में आ गया। कारणों का अध्ययन करने पर पता चला कि भूख या दरिद्रता के पीछे मूल कारण अकाल नहीं, पर्वतीय क्षेत्रों में जमीन का अत्यधिक उपयोग था, जिसके फलस्वरूप मिट्टी बुरी तरह से कटने लगी थी।

औद्योगीकरण का एक और दुष्परिणाम पूरी मानवता के समक्ष अवांछित कचरे के रूप में है। इस अवांछित कचरे के ढेर बढते जा रहे है, इनसे वायु-प्रदूषण बढ रहा है तथा वनस्पतियों को नुकसान पहुंच रहा है। ऐसे वातावरण में पौधों के उत्पादों की पोषकता में कमी हुई है, जिससे इन पर निर्भर रहने वाले जानवरों व मनुष्यों के स्वास्थ्य पर भी कुप्रभाव पड रहा है। हमारे कल-कारखाने नदियों और झीलों में प्रचुर मात्रा में कचरा डाल रहे है। इनसे निश्चित घुलनशील

नाइट्रोजन और फास्फेट के अंश पानी में इस तरह के सूक्ष्म जीव पैदा कर रहे हैं जो अन्य प्राणियों के जीवन के लिए घातक हैं।

सघन उद्योगों वाले देशों में वर्षा के पानी की अम्लीयता खतरनाक स्थिति तक पहुंच गई है। तेजाबी वर्षा की विशेष बात यह है कि एक राष्ट्र की चिमनी धुंआ उगलती है और दूसरे राष्ट्र के लोग उसके फलस्वरूप अम्लीय वर्षा को झेलते है। नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क आदि यूरोपियन राष्ट्र ब्रिटेन और फ्रांस पर यह आरोप लगा रहे है कि उनके कल-कारखानों से निकलने वाले धुंए से पर्यावरण प्रदूषित होता है तथा उनके राष्ट्रों में अम्लीय वर्षा होती है।

ज्वलनशील ईंधन का व्यापक प्रयोग भी सभी प्राणियों के लिए हानिकर है। एक तरफ तो यह ऑक्सीजन की मात्रा को कम करता है, दूसरी तरफ कार्बनडाइऑक्साइड की मात्रा को बढाता है। पर्यावरण पर विश्वव्यापी संकटों में सबसे महत्त्वपूर्ण संकट कार्बनडाइऑक्साइड व अन्य गैसों की वृद्धि है। वातावरण में कार्बनडाइऑक्साइड के बढने से पृथ्वी का तापमान भी बढेगा, जिससे ध्रुवों की बर्फ पिघलकर महासागरों के जल स्तर को बढाएगी। बढ़ा हुआ जल-स्तर सागरों के किनारे बसे शहरों को लील जाएगा। नासा की रिपोर्ट के अनुसार सन् 1979 से 1988 के दशक में ग्रीन हाउस तापवृद्धि नहीं हुई है। इस रिपोर्ट के सह लेखक शोध वैज्ञानिक क्रिस्टी का कहना है—"दीर्घकालीन तापवृद्धि का इस रिपोर्ट से कोई सम्बंध नहीं है। पिछले दशक में तापवृद्धि नहीं हुई, इसका यह अर्थ नहीं है कि तापवृद्धि होगी ही नहीं।" हाल ही की रिपोर्टो के अनुसार पृथ्वी के तापमान में .2 डिग्री की वृद्धि दर्ज की गई है।

वातावरण में क्लोरोफ्लूरो कार्बन्स (C.F.C.) में स्थित क्लोरीन को छोडे जाने से ओजोन की समस्या भी सिर उठाये खड़ी है। सी. एफ.सी. में क्लोरीन, फ्लोरीन और कार्बन तत्त्व होते हैं। वायुमण्डल में छोड़े जाने पर यह वायुमण्डल की ऊपरी सतह तक पहुंच जाती है। सूर्य की पराबैंगनी किरणें सी.एफ.सी. को तोड़ देती हैं और अलग क्लोरीन ओजोन के लिए खतरा बन जाती है।

वर्तमान में प्रदूषण का बड़ा स्रोत परमाणु अस्त्रों के विस्फोट एवं परीक्षणों से उत्पन्न रेडियोधर्मिता है। इस रेडियोधर्मिता से पृथ्वी धरातल का प्रत्येक भाग और इसके सभी निवासी प्रभावित होते है। थ्रीमाइल आइलैंड और चेर्नोबिल दुर्घटनाओं ने रेडियोधर्मिता के खतरे को और अधिक सुर्खियों में ला दिया है। ऊर्जा के वैकल्पिक साधन के रूप में परमाणु शक्ति के प्रयोग पर भी इन दुर्घटनाओं ने प्रश्नचिन्ह लगा दिया है।

ये समस्त खतरे हमें पर्यावरण की रक्षा के लिए सचेत करते है। हाल ही के वर्षों में पर्यावरण की रक्षा एवं पारिस्थितिक संरक्षण के प्रति लोगों की चेतना जागृत हुई है। दुनिया भर में होने वाले प्रदर्शन, विरोध रैलियां इसके गवाह हैं। समय रहते यदि हमने स्वयं को संयमित रखना सीख लिया तो निश्चित ही पृथ्वी की रक्षा हो पाएगी अन्यथा विनाशलीला से मानव स्वयं को नहीं बचा पाएगा।

विकास के नाम पर जन्म ले रही संस्कृति

किसी भी राष्ट्र की समस्या समान नहीं होती। समस्या की समानता का प्रश्न तब और भी अप्रासंगिक हो जाता है, जब दुनिया के कुछ राष्ट्र समृद्ध हों और कुछ राष्ट्र गरीब। समृद्ध राष्ट्रों की समस्याएं अलग होंगी और गरीब या अविकसित राष्ट्रों की समस्याएं अलग। यूरोपीय राष्ट्रों में अशांति की जैसी समस्या है, वैसी समस्या पिछडे या अविकसित राष्ट्रों को नहीं है। यूरोपीय राष्ट्र सैनिक शक्ति से सुदृढ़ हैं तथा भौतिक शक्ति से समृद्ध है। वहां दरिद्रता या सैन्य शक्ति का अभाव अशांति का कारण नहीं है। अशांति का कारण है—युद्ध का खतरा, भौतिक विकास से उपजी समस्याएं। पिछडे, राष्ट्रों के लिए युद्ध की आशंका कम है। गरीबी, पिछड़ापन, कुपोषण, वहां की मूलभूत समस्याएं है और ये समस्याएं ही उन राष्ट्रों को अशांत बनाती है। गरीबी अशिक्षा का कारण है, अशिक्षा बेरोजगारी का, बेरोजगारी कुपोषण का, कुपोषण बीमारी का—ये सब मिलकर सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक पिछडेपन को जन्म देते हैं। यह चहुंमुखी पिछडापन तनाव को जन्म देता है जो हिंसा या युद्ध का जनक बन जाता है इसलिए पिछडे राष्ट्रों के लिए गरीबी अशांति का मूल है। गरीबी व पिछड़ेपन (आर्थिक, सामाजिक व नैतिक) के निदान से ही सम्पूर्ण व संतुलित विकास हो सकता है और यह तभी संभव होगा जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति प्रतिस्पर्धा छोड़कर प्रेम, सहयोग, सौहार्द व विश्वास का व्यवहार करे।

जैन दर्शन के अपरिग्रह के सिद्धान्तानुसार अतिभाव व अभाव दोनों ही अशांति के मूल हैं। समृद्ध राष्ट्र अतिभाव से पीडित हैं तो गरीब राष्ट्र अभाव के कारण। पिछड़े व गरीब राष्ट्रों का विकास हुआ

ही नहीं है। समृद्ध राष्ट्रों का विकास तो हुआ है पर यह विकास विश्व व स्वयं उन राष्ट्रों के लिए अभिशाप बन गया है, क्योंकि यह विकास असंतुलित विकास है जिसे हम कुविकास कह सकते हैं।

1960-70 के दशक को संयुक्त राष्ट्र द्वारा विकास का दशक घोषित किया गया था। इस दशक में विकास के अनेक कार्य भी हुए फिर भी विश्व के बहुत से राष्ट्रों का विकास अब भी नहीं है। जो विकास हुआ है, उससे विकास के नाम पर तीन चीजें प्राप्त हुई हैं—

1. तथाकथित विकास ने विश्व के अन्य राष्ट्रों की तुलना में कुछ राष्ट्रों को और अधिक समृद्ध व शक्तिशाली बनाया है।

2. इस विकास ने राष्ट्रों के बीच क्षेत्रीयता की भावना और आर्थिक समूहों का निर्माण किया है।

3 इस विकास ने बड़ी मात्रा में गरीबी बढ़ाई है और हिंसा को बढावा दिया है जो नये राष्ट्रों के पर्यावरण को बिगाड़कर उन्हें युद्ध की ओर धकेल रहे हैं।

अत· विकास कुछ राष्ट्रों के लिए क्रियाशील है और कुछ राष्ट्रों के लिए निष्क्रिय। ऐसा इसलिए है कि कुछ राष्ट्रों ने तो अभी विकास-यात्रा प्रारंभ ही नहीं की है। उदाहरणतः अमेरिका की जनसंख्या विश्व जनसंख्या का 6% है पर यह विश्व के 70% संसाधनों का उपयोग करता है। दूसरी तरफ तीसरी दुनिया के देश जिनकी जनसंख्या विश्व की जनसंख्या का 70% है विश्व के मात्र 10% संसाधनों का प्रयोग करती है। इस असंतुलित स्थिति में क्या अविकसित राष्ट्र विकसित राष्ट्रों के साथ कदम से कदम मिलाकर चल सकते हैं। एक जिनके विकास की दर 0% है तथा दूसरे जिनके विकास की दर बहुत ऊंची है, क्या वे समान रूप से रह सकते हैं? इन प्रश्नों के उत्तर में प्रायः कहा जाता है कि जो राष्ट्र अत्यधिक विकसित हैं, एक दिन वे स्वयं ही अपनी समृद्धि के नीचे दबकर खत्म हो जायेंगे। संसाध नों का तेजी से हो रहा दोहन संसाधनों को समाप्त कर देगा। पर्यावरण

असंतुलित हो जायेगा। विकसित राष्ट्रों की बढ़ती आबादी व बहुमंजिली इमारतें—ये दोनों ही जीवन की मूलभूत प्रकृति को नष्ट कर देंगी। यह विकास करोड़ों वर्षों से चली आ रही उन सामाजिक संस्थाओं को समाप्त कर देगा जो मानव जाति के रख-रखाव व निर्माण के लिए जिम्मेदार है। बिखरते परिवार, ढहते नीड़ मुक्त कामाचार, बच्चों, वृद्धों व स्त्रियों के प्रति लापरवाही, अकेलापन, आदि नशे की संस्कृति का निर्माण कर रहे हैं जो मानवता के लिए अभिशाप होगी।

दूसरी तरफ ये तथाकथित विकसित व सभ्य राष्ट्र पिछड़े व अविकसित राष्ट्रों की अर्थ व्यवस्था को बिगाड़ने के लिए भी जिम्मेदार हैं। ये पिछडे राष्ट्रों को शस्त्र खरीदने के लिए बाध्य करते हैं। यही कारण है कि पिछड़े राष्ट्र रोटी-कपडा-मकान नहीं जुटा पाते पर उनके लिए अस्त्र-शस्त्र आवश्यक होते है। ऐसे राष्ट्र राष्ट्रीय आय का मात्र 2 या 3% शिक्षा पर खर्च कर पाते हैं जबकि उन्हें सैनिक कार्यों पर 20-25% तक खर्च करना पड़ जाता है। उनके विकास के प्रयत्न अवरुद्ध होते चले जाते हैं। गरीबी उन्मूलन के लिए विकसित राष्ट्रों के ये प्रयत्न हिंसा के प्रतिकारक के रूप में कार्य करते है पर उनका दावा यह होता है कि वे पिछड़े राष्ट्रों की मानव शक्ति, रुपये की शक्ति व संसाधनों की शक्ति के द्वारा उनकी संस्कृतियों से जुड़ने के प्रयत्न कर रहे है ताकि वे कम से कम समय में अधिक से अधिक विकास को प्राप्त कर सकें।

अतः समृद्ध राष्ट्रों के लिए ऐश्वर्य उनकी कब्रगाह बन रहा है जबकि पिडड़े राष्ट्रों के लिए गरीबी उनकी कब्रगाह बन रहा है। समृद्ध राष्ट्रों का विकास उनके लिए अभिशाप हो रहा है जबकि पिछडे राष्ट्रों का विकास न कर पाना उनके लिए अभिशाप हो रहा है। एक तरफ अतिभाव है एक तरफ अभाव है। यही कुविकास है, यही असंतुलित विकास है। ऐसा विकास न तो मानव जाति के लिए व्यवहार्य है और न वांछनीय। इस संदर्भ में नार्वे के प्रधानमंत्री तथा इंदिरा गांधी शांति एवं निःशस्त्रीकरण पुरस्कार से सम्मानित श्रीमती ग्रो

हालेस गुइटलैंड का कथन द्रष्टव्य है—आज विश्व के समक्ष प्रश्न है असमानता और गरीबी का। विश्व जो पर्यावरण के संकट का सामना कर रहा हे उसमें असमानता व गरीबी सबसे बड़ा प्रदूषण है। खपत अपने आप में मुख्य मुद्दा नहीं है। प्रयुक्त स्रोत की उपलब्धता, वहनीयता, प्रदूषण, प्रतिमान और आर्थिक विकास के लिए पर्यावरण को नुकसान पहुंचाने वाली वस्तुओं का प्रयोग, असमानता तथा पक्षपात पूर्ण वितरण ही मुख्य मुद्दे है। इस सक्रान्तिकाल में हमारे लिए दो विकल्प है—या तो हम इस तथाकथित विकास को स्वीकार कर लें, जो हमें समृद्धि देगा और संस्कृतियों का नाश करेगा या हम सीमित विकास को स्वीकार करें जो हमें गरीबी मुक्त समाज का आधार देगा तथा मानवता को जीवित रखेगा। इन विकल्पों में से किसी एक विकल्प के चयन का निर्णय किसी एक हाथ में नहीं होगा पर हम सब इसके साझीदार होंगे तथा इसके परिणाम भी सभी को प्राप्त होंगे।

निःशस्त्रीकरण—जैन दृष्टि

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व युद्ध का वह स्वरूप नहीं था जो आज है। राजा अपने राज्य के विस्तार के लिए भाड़े की सेना लेकर लड़ता था। राष्ट्रवाद का उदय अभी नहीं हुआ था। भारतवर्ष में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जो प्रायः दो कारणों से परस्पर लड़ते थे—भूमि और स्त्री। युद्ध के दुष्परिणामों से लोग सामान्यतः परिचित थे, जैसा कि गीता में अर्जुन के वक्तव्य से स्पष्ट होता है। अपने अधिकार के लिए लडना क्षत्रिय धर्म समझा जाता था। युद्धों में शस्त्रधारी, शस्त्रधारी पर ही आक्रमण करता था। निःशस्त्र नागरिक युद्ध की विभीषिका के शिकार नहीं होते थे। पूंजीवाद का उदय अभी नहीं हुआ था। उस समय व्यापारी और श्रेष्ठी थे जो निर्धन लोगों को दास-दासियों की भांति खरीदा-बेचा करते थे।

ऐसे समय में महावीर और बुद्ध दो ऐसे महापुरुष हुए, जिन्होंने व्यक्तिगत स्तर पर अहिंसा और अपरिग्रह की बात रखी। यह मात्र संयोग ही नहीं था कि ये दोनों ही क्षत्रिय राजकुमार थे, जिनका पैतृक व्यवसाय युद्ध करना था। शेष 23 जैन तीर्थंकर भी राजघरानों से ही संबद्ध थे। उपनिषदों में भी ब्रह्मविद्या का संबंध क्षत्रियों से माना गया है। इसका अर्थ यह है कि अहिंसा और आत्मविद्या की चर्चा उन घरानों में पनपी जिनका युद्ध करना पैतृक व्यवसाय समझा जाता था। स्वाभाविक भी है—युद्ध की विभीषिका से वे लोग अधिक परिचित थे जो स्वयं युद्ध से सीधे जुडे थे।

निःशस्त्रीकरण का अर्थ

अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ डिफेन्स एनालिसेस ने निःशस्त्रीकरण की परिभाषा देते हुए कहा है—"कोई भी एक योजना, जो प्रत्यक्ष

या परोक्ष रूप से निःशस्त्रीकरण के किसी भी एक पहलू जैसे संख्या, प्रकार, शस्त्रों की प्रयोजन प्रणाली, उसका नियंत्रण, उसकी सहायता के लिए पूरक यंत्रों का निर्माण, प्रयोग व वितरण, गुप्त सूचनाएं एकत्र करने के संयंत्र, सेना का संख्यात्मक स्वरूप आदि को नियमित करने से संबंध हो, निःशस्त्रीकरण की श्रेणी में आते हैं।'' जैन दृष्टि इससे भिन्न है।

भगवान् महावीर के शस्त्रीकरण और निःशस्त्रीकरण संबंधी विचार प्रथम जैन आगम 'आयारो' में संग्रहीत है। वहां शस्त्र के दो प्रकार बतलाये गये है—द्रव्य शस्त्र और भाव शस्त्र। पाषाण युग से अणुयुग तक जितने भी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हुआ है, वे सब द्रव्य शस्त्र है। दूसरे शब्दों में निष्क्रिय शस्त्र है, उनमें स्वतः प्रेरित संहारक शक्ति नहीं है। सक्रिय शस्त्र जिसे आयारो में भाव शस्त्र कहा गया है—असंयम है। विध्वंस का मूल असंयम ही है। निष्क्रिय शस्त्रों में प्राण फूंकने वाला तथा शस्त्रों के निर्माण की मूलभूत प्रेरणा असंयम ही है।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा की गई यह घोषणा—''युद्ध पहले मनुष्य के मस्तिष्क में लड़ा जाता है, फिर समरांगण में'' इसी भावशस्त्र के स्वर का पुनरुच्चारण है। इस भावशस्त्र (असंयम) को भली भांति समझकर छोड़ने का प्रयत्न करना निःशस्त्रीकरण है।

शस्त्रीकरण के हेतु

आयारो में शस्त्रीकरण के चार हेतु बतलाये गये है—

1 वर्तमान जीवन के लिए

2. प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए

3 जन्म, मरण और मोचन के लिए और

4 दुःख प्रतिकार के लिए।

जीवन की सुरक्षा के लिए मनुष्य—'जीवो जीवस्य जीवनम्'—यह मान कर अपने जीवन के लिए दूसरे जीवों का वध और शोषण करता है। प्रशंसा या कीर्ति के लिए प्रतियोगितात्मक प्रवृत्तियां करता है। पूजा

पाने के लिए मनुष्य युद्ध आदि विविध प्रवृत्तियां करता है। भावी जन्म के लिए अनेक हिंसात्मक प्रवृत्तियां, मारण के लिए बैर-प्रतिशोध तथा अन्य प्रवृत्तियां एवं दुःख प्रतिकार के लिए दवा व रसायनों हेतु अनेक पशु-पक्षियों की हिंसा करता है। इन सभी कारणों के लिए वह शस्त्रीकरण करता है।

शस्त्रीकरण के मूल में इन कारणों को देखकर यह कहा जा सकता है शस्त्रीकरण सुख का हेतु नहीं दुःख का मूल है। इसी संदर्भ में वितेषणा और लोकेषणा को छोड़ने पर भी बल दिया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुख-सुविधा को सर्वोपरि मानता है। जो कुछ उसके पास नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए वह दूसरे देशों में पैर पसारता है। दूसरों के अधिकारों पर चोट करता है, उन पर विजय चाहता है तथा बार-बार शस्त्र का प्रयोग करता है। अतः सुख के लिए इच्छाओं का विस्तार शस्त्रीकरण का मूल है जो अज्ञान के कारण है। अज्ञानी को हिंसा व शस्त्रीकरण की विभीषिका समझाना कठिन है। ज्ञान ही संयम का आधार है।

शांति की अविभाज्यता

भगवान् महावीर ने युद्ध के मूल पर प्रहार किया। वे आज के मानवतावादी, शांतिवादी आन्दोलनों के सिद्धांतों की अपेक्षा कहीं अधिक गहरे में गये। आधुनिक संदर्भों में यदि कहें तो उनका ध्यान प्रकृति के असंतुलन और पर्यावरण प्रदूषण तक गया। वे प्रकृति के किसी भी तत्त्व के साथ किसी भी प्रकार की छेड़-छाड़ को हिंसा मानते थे। इसलिए उन्होंने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को भी सजीव माना। वनस्पति को तो वे जीवन-युक्त मानते ही थे। उनका मानना था जो पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है वह अन्य जीवों की हिंसा का भागी भी बनता है। यह अवधारणा आज के वैज्ञानिक अवधारणा के बहुत निकट है। प्रकृति का संतुलन बिगड़ जाने पर वनस्पति, पशु-पक्षी और मनुष्य का जीवन भी संकट में पड़ जाता है। प्रो गाल्टुंग के अनुसार शांति समग्र है, अविभाज्य है। उन्होंने

अस्तित्व के पांच प्रकार बतलाए हैं—प्रकृति, मानव, समाज, विश्व और संस्कृति। गहराई से विचार करने पर ये सभी तत्त्व परस्पर अन्तर्ग्रथित दिखाई देते हैं। इनमें से किसी एक भी तत्त्व की अवहेलना करके शांति स्थापित नहीं की जा सकती। प्रत्येक तत्त्व का अस्तित्व दूसरे तत्त्व के अस्तित्व पर निर्भर है और प्रत्येक तत्त्व की शांति दूसरे तत्त्व की शांति को प्रभावित करती है। प्रो. गाल्टुंग ने ठीक ही लिखा है—"जब हम शांति के बारे में चर्चा या विचार-विमर्श करते हैं तो इसका आशय इतना ही नहीं है कि शांति केवल राष्ट्रों के बीच में ही हो, बल्कि शांति तो समाज की रग-रग में, मानव जाति में और यहां तक कि प्रकृति में भी शांति व्याप्त होनी चाहिए।"

हितैक्य का दर्शन

भगवान् महावीर ने कहा—यह हमारा अज्ञान है कि मनुष्य अपने और दूसरे के हितों में टकराव देखता है। सबके हित में ही स्वयं के हित को देखना सही दृष्टिकोण है। भगवान् महावीर के समय तक वनस्पतिकाय की हिंसा न करना भूत-दया का अंग था। आज विज्ञान के माध्यम से हम जानते है कि वनस्पति को नष्ट न करके हम वनस्पति पर नहीं, स्वयं अपने पर ही कृपा करते हैं। गहरे आध्यात्मिक अर्थों में किसी का भी अहित करके हम अपना ही अहित करते है।

निःशस्त्रीकरण के आधार

विजातियों के प्रति प्रेम—आयारो के 'शस्त्र-परीज्ञा' अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्थावरों के लिए अहिंसा का प्रतिपादन त्रस-जीवों से पहले किया गया है। स्थावरों में भी वनस्पतिकाय से पहले पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु-काय के प्रति अहिंसा का प्रतिपादन है। इस क्रम में भी एक गहरा रहस्य है—त्रस-जीव के लक्षण हमारे अधिक निकट है, इसलिए उनके प्रति हिंसा की भावना उत्पन्न होने की संभावना कम है। अहिंसा का मूल है—हम विजातीय के प्रति

भी अहिंसक हों। यही निःशस्त्रीकरण का एक प्रमुख आधार भी है। आज जहां अहिंसा की चर्चा होती है, वहां सजातीयों के प्रति विशेष पक्षपात रहता है। यही कारण है कि अनेक सैनिक और गैर-सैनिक संघों एवं गुटों का निर्माण हुआ है। ये सभी संगठन सजातीयों के प्रति अनुराग व विजातीयों के प्रति द्वेष के परिणाम हैं।

सर्व-जीव समानता—भगवान् महावीर ने निःशस्त्रीकरण का आधार प्रस्तुत करते हुए कहा सब जीव समान हैं। जीवों के शरीर भले ही छोटे-बड़े हों, आत्मा सबमें समान है। ज्ञान-शक्ति सब जीवों में समान है, भले ही ज्ञान का विकास सब जीवों में समान न हो। आत्मवीर्य या सामर्थ्य वीर्य की दृष्टि से कोई न्यूनाधिक नहीं होता। अतः सजातीय-विजातीय, रंग-भेद, जीवन-स्तर, विचार धारा आदि के आधार पर भेद-भाव न रखकर प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री-भाव निःशस्त्रीकरण या विश्व-शांति का आधार बन सकता है। प्राणी मात्र को जीवन प्रिय है। सूक्ष्म जीव भी अपने प्राण लूटने की स्वीकृति कब देते है ? जो व्यक्ति बलात् उनके प्राण लूटते हैं, वे उनकी चोरी करते है।

निःशस्त्रीकरण का अधिकारी

आयारो में आत्मवादी को निःशस्त्रीकरण का अधिकारी माना गया है। अनात्मवादी निःशस्त्रीकरण नहीं कर सकता। भगवान् महावीर ने जिस अहिंसात्मक आचार का निरूपण किया, उसका आधार आत्मा है। आत्मा का स्पष्ट बोध होने पर ही अहिंसात्मक आचार में आस्था हो सकती है।

निःशस्त्र कौन हो सकते हैं ?

जो अपना दुःख जानता है, वही दूसरों का दुःख जान सकता है। जो दूसरों का दुःख जानता है, वही अपना दुःख जान सकता है। आत्मतुला की यथार्थ अनुभूति हुए बिना निःशस्त्रीकरण का अधिकार नहीं मिल सकता। आत्मवाद की ऐसी व्याख्या भगवान् महावीर

को आधुनिक मानवतावाद के निकट ला देती है। भगवान् महावीर ने निःशस्त्रीकरण का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया—जो दूसरे के अस्तित्व को नकारता है वह स्वयं अपने ही अस्तित्व को नकारता है। शस्त्रीकरण के मार्ग पर चलने वाला दूसरे की अवहेलना कर आत्म-तत्त्व की ही अवहेलना करता है। अतः निःशस्त्र वे ही हो सकते हैं जिन्हें सभी प्राणी आत्मवत् लगें। महावीर ने कहा—"पुरुष! जिसे तू हनन करने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है। जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है।" जो व्यक्ति क्रिया की प्रतिक्रिया देख लेता है, वह किसी को भी मारना या अधीन करना नहीं चाहता।

शस्त्रीकरण से वे ही बच सकते हैं जो अतीत के अनुभवों के आधार पर शस्त्र प्रयोग में अपना अहित देख लेते है। जो दूसरों के भय, आशंका, लज्जा, दबाव या प्रलोभन से शस्त्रीकरण नहीं करते वे समय आने पर शस्त्रीकरण से बच नहीं सकते। समता का आचरण व सबकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करने वाले ही नि शस्त्रीकरण के उपासक हो सकते हैं। किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन करने वाले, उन पर शासन करने वाले, उन्हें दास बनाने वाले, उन्हें परिताप देने वाले, उनका प्राण वियोजन करने वाले अहिंसक और निःशस्त्र नहीं हो सकते।

निःशस्त्र ही अभय हो सकते हैं

भगवान् महावीर निःशस्त्रीकरण का संबंध वीरता से जोड़ते है। "पणया वीरा महावीहिं"—यह उक्ति हमें महात्मा गांधी का स्मरण कराती है जो मानते थे—कायर कभी अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। निःशस्त्रीकरण सभी को अभय प्रदान कर सकता है जबकि शस्त्रीकरण का मूल भय है।

शस्त्र के द्वारा झुकाना प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देना है। जिस विजय के लिए शस्त्र बनाने व चलाने पड़े, वह प्रतिस्पर्धा का स्थान है। जो

सशस्त्र है वह सभय है, पराजित है। जो अशस्त्र है—वह अभय है, विजयी है। शस्त्र प्रतिस्पर्धा लाता है। एक शस्त्र को व्यर्थ करने के लिए दूसरा, दूसरे को व्यर्थ करने के लिए तीसरा, यह क्रम आगे से आगे बढ़ता है। अशस्त्र में स्पर्धा नहीं होती।

सभ्य जीवन की यह विडम्बना है—हम युद्ध तो नहीं चाहते किंतु शस्त्र त्याग भी नहीं करते। शांति के प्रयत्न करने वाले सभी संगठनों के लिए भगवान् महावीर का यह संदेश है—यदि शांति चाहते हैं तो सुख की आशा छोड़ें। यह सत्य है—सुख की आसक्ति हम पूर्णतः नहीं छोड़ सकते किंतु यह भी सत्य है—सभी अपनी इच्छाओं पर नियमन तो कर ही सकते हैं। हम सभी प्रकार की हिंसा नहीं छोड़ सकते पर निरर्थक हिंसा तो छोड़ ही सकते हैं।

संयुक्त राष्ट्र और विश्वशांति

संयुक्त राष्ट्रसंघ जिसका जन्म अराजकता और युद्ध की विभीषिका के बीच हुआ और जिसका पालन-पोषण उपद्रवों व परमाणु विस्फोट के युग में हुआ, अपने 50 वर्ष पूरे कर चुका है। इतने दीर्घ काल तक अस्तित्व में बना रहना इसकी अन्तर्निहित शक्ति व शांति के लिए विश्वव्यापी अभिलाषा का द्योतक है। इसने न केवल सुरक्षा एवं विश्वशांति सम्बंधी कार्य किये हैं बल्कि अनगिनत अभागों के लिए कल्याण के कार्य भी किये हैं।

यद्यपि यह सही है कि इसे राजनीतिक विवादों के समाधान में कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली है पर यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि ऐसे विवादों के समाधान में यदि संयुक्त राष्ट्र ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भाग न लिया होता तो ये विवाद इतने गंभीर हो सकते थे जिससे विश्वशांति को खतरा हो सकता था।

संयुक्त राष्ट्र की विश्वशांति के लिए व्यवस्था

चार्टर की वर्तमान व्यवस्था के अनुसार राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा कायम रखने के लिए मुख्यत· दो विधियां अथवा प्रक्रियाएं काम में लाता है—

1. शांतिपूर्ण समाधउन की प्रक्रियाएं
2. प्रतिरोधात्मक अथवा बाध्यकारी प्रक्रियाएं।

शांतिपूर्ण समाधान की प्रक्रिया में संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 33 में यह व्यवस्था है कि यदि किसी विवाद से विश्वशांति व सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाए और संबंधित पक्ष झगड़ा निपटाने में असफल रहे तो सुरक्षा परिषद् विवादी से वार्ता, जांच, मध्यस्थता, पंचनिर्णय,

संराधन, समझौते आदि द्वारा विवाद निपटाने का प्रयत्न करती है।

प्रतिरोधात्मक एवं बाध्यकारी प्रक्रिया में विश्वशांति भंग होने की स्थिति में संयुक्त राष्ट्र बल प्रयोग अथवा प्रतिरोधात्मक उपायों का आश्रय भी लेती है।

संयुक्त राष्ट्र की विश्वशांति संबंधी भूमिका

संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक समस्याओं का समाधान करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को प्रोत्साहन देना है। अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए उसके महत्त्वपूर्ण प्रयास रूस-ईरान विवाद 1946-47, यूनान विवाद 1946-47, बर्लिन समस्या, कोरिया संकट, फिलिस्तीन विभाजन की समस्या, कश्मीर समस्या, स्वेज नहर विवाद, कांगो समस्या, अरब इजरायल संघर्ष 1956 व 1973, भारत-पाक संघर्ष 1965 व 1971, ईराक-ईरान युद्ध के समय देखने में आये। इन विवादों में कोरिया संकट, स्वेज नहर विवाद आदि ऐसे विवाद थे जिनमें संयुक्त राष्ट्रसंघ का हस्तक्षेप व प्रयास न होते तो संभवतः ये विवाद विश्वयुद्ध का रूप ले लेते। कोरिया संकट में तो संयुक्त राष्ट्रसंघ ने प्रथम बार सैनिक शक्ति का भी प्रयोग किया।

खाड़ी युद्ध में बहुराष्ट्रीय सेनाओं को ईराक द्वारा कुवैत में की गई मनमानी को रोकने में भी संयुक्त राष्ट्र संघ सफल रहा तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में ईराकी परमाणु ठिकानों का निरीक्षण भी संभव हुआ। यद्यपि इसके पीछे अमेरीका न होता तो सम्भवतः संयुक्त राष्ट्रसंघ ऐसा करवाने में असफल रहता।

यद्यपि कश्मीर का प्रश्न, वियतनाम का संघर्ष, निःशस्त्रीकरण, परमाणु अस्त्रों पर प्रतिबंध आदि के स्थायी समाधान में संयुक्त राष्ट्र संघ असफल रहा है लेकिन फिर भी कुछ विवादों को अधिक विस्फोटक बनने से रोकने की दिशा में संघ के प्रयास उल्लेखनीय रहे है तथा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में इसने शांति स्थापना के अनेक सफल प्रयत्न किये हैं।

नि:शस्त्रीकरण के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र के प्रयास

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने प्रारंभ से ही नि:शस्त्रीकरण की समस्या पर ध्यान देना शुरू किया। नि.शस्त्रीकरण व परमाणु शक्ति पर नियंत्रण की दृष्टि से 1946 में संघ द्वारा अणु शक्ति आयोग (Atomic Energy Commission) की स्थापना की तथा परम्परागत शस्त्रों को सीमित करने की दृष्टि से परम्परागत शस्त्र आयोग (The Commission for Conventional Armaments) गठित किया। 1956 में जेनेवा सम्मेलन (1955 से 1960) के प्रयासों के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघीय नि·शस्त्रीकरण आयोग की बैठक में नि.शस्त्रीकरण के मुद्दे को महत्त्वपूर्ण माना गया।

1961 में महासभा ने परमाणु परीक्षण को बंद रखने का आग्रह किया तथा 1963 में परमाणु परीक्षण प्रतिबंध संधि सम्पन्न हुई। नि:शस्त्रीकरण के क्षेत्र में एक आंशिक सफलता तब मिली, जब रूस व अमेरिका के बीच 1968 में परमाणु अस्त्र प्रसार निरोध संधि सम्पन्न हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 1970 से 1980 तक के दशक को नि शस्त्रीकरण दशक घोषित किया एवं विभिन्न राष्ट्रों को परमाणु अस्त्रों की होड को छोडने के लिए कारगर कदम उठाने की बात कही तथा 1972 में परमाणु परिसीमन संधि (साल्ट-1) हुई। 1978 में जेनेवा में नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन हुआ जिसमें परमाणु अस्त्रों के उत्पादन को समाप्त करने तथा शस्त्रीकरण पर हो रहे खर्च को कम करने की बात कही गई। 1979 में साल्ट-2 पर हस्ताक्षर हुए। 1982 में सोवियत संघ ने परमाणु अस्त्रों के प्रसार पर रोक की एकतरफा घोषणा की तथा 1982 में उसने संघ में यह घोषणा की कि वह परमाणु शक्ति का प्रयोग करने वाला प्रथम राष्ट्र कदापि नहीं होगा। इसी वर्ष नि:शस्त्रीकरण पर दूसरा विशेष अधिवेशन भी सम्पन्न हुआ। व्यापक परमाणु परीक्षण संधि पर अभी भी विश्व समुदाय बंटा हुआ है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के ये प्रयास आज तक चल रहे हैं यद्यपि कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल पाई है। सोवियत संघ के विघटन

के बाद अमरीका व रूस के बीच हुए 1993 में निःशस्त्रीकरण के कुछ समझौते आशा की किरण है। व्यापक परमाणु परीक्षण संधि पर अभी भी विश्वसमुदाय बंटा हुआ है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ और मानवाधिकार

संयुक्त राष्ट्र संघ ने विश्वशांति की दृष्टि से मानवाधिकारों के संरक्षण पर पर्याप्त बल दिया है। रंग-भेद के कारण हो रहे बर्बरतापूर्ण कृत्यों को रोकने में उसके प्रयासों को भुलाया नहीं जा सकता। दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार के विरुद्ध लगाये गये प्रतिबंध इसी के प्रयासों का फल था, जिसका सुपरिणाम तब सामने आया जब दक्षिण अफ्रीका में लोकतांत्रिक आधार पर रंग भेद के बिना 1994 में सरकार का गठन हुआ। 10 दिसम्बर को मानवाधिकार दिवस का आयोजन इसी के सुप्रयासों का फल है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामाजिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में किये गये विश्वशांति के प्रयास

सयुक्त राष्ट्रसंघ का यह विश्वास है—अतएव युद्धों को तभी रोका जा सकता है जब सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक स्थितियों को बदला जाए। 1970 के दशक को विकास का दशक घोषित किया गया। इस काल में सदस्य राष्ट्रों से गरीबी, भूखमरी, अज्ञानता, कुपोषण व रोगों को जडमूल से उखाड़ फेंकने की बात कही गई।

सामाजिक समस्याओं के निदान ढूंढने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन हुआ, जैसे 1966 में World Land Reform Conference, 1970 में Un Conference on the treatment ot offenders तथा 1974 में Third World Population Conference आदि-आदि का आयोजन। 1975 को International Women's Years तथा वर्ष 2000 को शांति की संस्कृति का वर्ष घोषित किया गया। आर्थिक विकास की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय धनकोष आदि की स्थापना तथा सामाजिक एवं

सांस्कृतिक क्षेत्र में UNESCO, CWF आदि की स्थापना विश्वशांति की दिशा में सफल कदम है क्योंकि अशांति सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक असमानताओं व विभिन्नताओं के कारण भी होती है।

संयुक्त राष्ट्रसघ ने उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद के उन्मूलन में भी सफलता पाई है। साम्राज्यवाद के चंगुल में फंसे लिबिया, ट्यूनिसिया, अल्जीरिया, टोबोलैड आदि को स्वतंत्र राष्ट्र का दर्जा मिल चुका है। फिलीस्तीन संघर्ष के समाधान के लिए यह अभी भी सक्रिय है।

यद्यपि विश्वशांति के क्षेत्र में आंशिक सफलता ही प्राप्त कर पाने के बावजूद आज विश्वशांति की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र का स्थान कोई दूसरी संस्था ले पाने में सक्षम नहीं है। इसकी सफलता का एक आधार तो यही है कि इसकी स्थापना के बाद से आज तक कोई बडा युद्ध नहीं हो पाया है। यद्यपि इसमें में कुछ बड़े राष्ट्रों का प्रभुत्व है, यदि उसे कम कर सुरक्षा परिषद् व महासभा को और अधिक सक्षम बना दिया जाए तो इससे विश्वशांति के क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलता मिल सकती है।

शांति की संस्कृति : हमारा दायित्व

"अतीत के अनुभवों के आधार पर यदि हम भविष्य का निर्माण करना चाहते है तो हमें मानव मात्र के दैनन्दिन-जीवन में शांति और अहिंसा को अविलम्ब समाविष्ट कर लेना चाहिए। हममें से प्रत्येक के लिए यह उचित समय होगा जब हम युद्ध और हिंसा की संस्कृति के स्थान पर शांति और अहिंसा की संस्कृति की ओर प्रयाण करें।" यूनेस्को द्वारा ये शब्द शांति की संस्कृति के वर्ष की आवश्यकता के लिए कहे गए हैं। वस्तुत. शांति मनुष्य की चिर-प्रतीक्षित आकांक्षा है जो उसके अस्तित्व, विकास एवं प्रगति के लिए आवश्यक है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शांति का प्रश्न राजनीतिज्ञों, चिन्तकों एवं सामान्य नागरिकों द्वारा अन्तहीन रूप से चर्चित रहा है। वे उस मार्ग की खोज के लिए प्रयत्नशील है जो उन्हें युद्धों के अन्त की ओर ले जाये, जिनसे हजारों वर्षो से मानवता पीडित रही है। अर्थात् वे अतीत की खूनी स्मृतियों तथा भविष्य के भयावह परिणामों के भय से शांति की ओर प्रयाण करना चाहते हैं। युद्ध और युद्धों के परिणाम के भय से शांति की दिशा में प्रयाण का दृष्टिकोण केवल युद्ध, समरांगण, शस्त्र व राष्ट्रों पर टिका है। जहां भी शांति का प्रश्न आता है, हम इन्हीं पर अटककर रह जाते है। हम शांति को केवल युद्ध व अणु शस्त्रों के संदर्भ में ही न देखें। शांति जो मानवमात्र के लिए सुरक्षा व खुशहाली लाती है, युद्ध के अभाव से कहीं अधिक है।

शाति का सम्बन्ध एक ओर व्यक्ति की विश्व-काया से है, जो प्रकृति और संस्कृति से जुड़ी है तथा उम्र, लिंग, जाति, वर्ग और राष्ट्रों में बंटी है। इस जटिलतंत्र के एक अंग द्वारा दूसरे अंग को सताया जाता है तो हम उसे प्रत्यक्ष हिंसा कह देते है। दूसरी ओर शांति का

सम्बन्ध उस संगठन अथवा व्यवस्था से भी है जिससे अनेक राष्ट्र और समुदाय जुडे है। व्यवस्था की संरचना यदि ऐसी है, जिसमें एक पक्ष, दूसरे पक्ष द्वारा संगठित रूप से सताया जाता है तो उसे हम संरचनात्मक हिंसा कह देते हैं। शांति का प्रश्न इन दोनों प्रकार की हिंसा को अल्पतम करना है। शांति के इस निषेधात्मक पक्ष के अतिरिक्त उसका विधायक पक्ष भी है जो आनन्द की पराकाष्ठा है। यह पक्ष अभी कम विकसित है क्योंकि शांति की आवाज जरा मद्धिम ही होती है।

व्यक्ति बनाम व्यवस्था

प्राचीन भारतीय चिन्तन सामान्यतः वैयक्तिक शांति पर अधिक बल देता है। इस चिन्तन के अनुसार—सही व्यक्ति और सामंजस्यपूर्ण अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध होने से शांति संभव है, भले ही व्यवस्था कितनी भी अन्यायपूर्ण और हिंसक क्यों न हो? इसके विपरीत पाश्चात्य चिन्तन इस भ्रम में है कि व्यवस्था ठीक हो तो उसमें कैसे भी व्यक्ति को उसके असीमित संघर्षों के साथ एवं उसकी अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों की क्षमता के अभाव के बावजूद रहने दिया जाये तो भी शांति स्थापित की जा सकती है। ये दोनों ही विचार मूलतः एकांगी हैं। किसी एक पक्ष की अवहेलना कर शांति का स्वप्न साकार नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक घटक की शांति, दूसरे घटक की शांति पर निर्भर है। शांति के बारे में चर्चा या विचार-विमर्श का मात्र इतना ही आशय नहीं है कि शांति केवल राष्ट्रों के बीच में ही हो बल्कि शांति तो समाज की रग-रग में, मानवमात्र में और यहां तक कि प्रकृति के कण-कण में व्याप्त होनी चाहिए। वस्तुत तो शांति सभी स्तरों पर सामंजस्य का बोलबाला है।

क्या लड़ना हमारी संस्कृति रही है?

प्रथम विश्व युद्ध के पहले अधिकांश राजनीतिज्ञ एवं नागरिक स्थायी शांति का स्वप्न तो देखते थे, किन्तु वे यह भी मानते थे कि युद्ध सभी उच्च गुणों एवं मानव विशेषताओं के उद्‌भव का आधार है। अर्थात् उस समय युद्ध व सशस्त्र संघर्ष मानव जाति का अभिन्न अंग था। वे सैनिक

सफलता को सर्वोच्च मानव उपलब्धि तथा शस्त्रों को राष्ट्र की महानता और प्रतिष्ठा का मापदण्ड समझते थे। अपने विश्वास के पक्ष में उनका तर्क था—मनुष्य स्वभाव से लड़ाकू पशु है तथा सत्ता और सम्पत्ति के अंतहीन संघर्षों में उसी का जीवन और विकास संभव है, जो योग्यतम है। इनका यह भी मानना था कि स्थायी शांति मानव उद्‌विकास की शक्ति के विरूद्ध है तथा शांति से मानव योग्यता और उसकी उपलब्धियां न्यून होती चली जायेंगी। आज यह चिन्तन सर्वथा बदल चुका है तथा मानव जाति यह अनुभव करने लगी है कि लड़ाइयां बहुत हो चुकीं, अब उन्हें सदा के लिए बंद कर देना होगा। लाखों-लाखों वर्षो की विकास प्रक्रिया में मनुष्य अन्य प्राणियों की तुलना में वर्चस्व वाला प्राणी रहा है, इसलिए नहीं कि वह लड़ाकू है बल्कि इसलिए कि उसमें सहयोग की क्षमता व परहित की प्रतिभा है। शांति के उद्देश्य की ओर बढ्ने का मार्ग हमारे लिए सरल तो नहीं है किन्तु हमें उन करोड़ों लोगों की आकांक्षाएं आगे बढने के लिए प्रेरित कर रही हैं जो यह समझने लगे हैं कि अब हमारे समक्ष शांति के अलावा अन्य कोई विकल्प ही नहीं है। परार्थ, सहयोग व सह-अस्तित्व ही मनुष्य के विकास की संचालक शक्ति रही है और वही उसकी सफलता का रहस्य भी होगी।

क्या है शांति की संस्कृति

शांति की संस्कृति से हमारा तात्पर्य उन मूल्यों, अभिवृत्तियों एवं व्यवहारों से है जो जीवन मात्र के लिए आदर, मानवाधिकारों के प्रति सम्मान, सर्व प्रकार की हिंसा का निषेध तथा स्वतंत्रता, न्याय, एकता, सहिष्णुता, आपसी समझ आदि के रूप में परिलक्षित होते है। "शांति की संस्कृति वर्ष" के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए यूनेस्को ने कहा था—"हमें शांति, मानवाधिकार, प्रजातंत्र, सहिष्णुता और अन्तर्राष्ट्रीय समझ के लिए शिक्षा को प्रोत्साहित करना, बिना कोई अपवाद के मानवाधिकारों का संरक्षण व उनका सम्मान करना तथा सर्व प्रकार के भेदभाव को समाप्त करने के प्रयत्न करने चाहिए। समाज के सभी स्तरों पर प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों को बढावा देना, सहिष्णुता एवं

सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व, गरीबी से संघर्ष, सभी की भलाई के लिए संतुलित और स्थाई विकास को सुनिश्चित करना, मानवमात्र को गुणवत्ता पर आधारित ऐसी जीवन शैली के लिए समर्थ बनाना जो मानवीय गरिमा से मेल खाती हो; के प्रयत्न करने चाहिए। हमें पर्यावरण का संरक्षण और प्रकृति का आदर भी करना होगा जिससे प्रत्येक व्यक्ति और मानवमात्र को शांति से जीवन जीने की प्रेरणा मिले।"

शांति की संस्कृति : हमारा दायित्व

शांति की संस्कृति के लिए हममें से प्रत्येक का दायित्व है कि हम राष्ट्रों के मध्य स्थायी शांति एवं समाज में शांति के साथ ही व्यक्ति की शांति के लिए भी कार्य करें। युद्ध का प्रारम्भ मानव मस्तिष्क में होता है, इसलिए शांति की शुरुआत भी मानव मस्तिष्क से ही होगी। इस हेतु सर्वप्रथम हमारा दायित्व मानव मस्तिष्क को प्रशिक्षित करने का है। मानव मस्तिष्क के प्रशिक्षण के लिए इस सदी के महान् अध्यात्म योगी आचार्य महाप्रज्ञ ने एक नई सोच दी है—अहिंसा प्रशिक्षण। उनका कहना है—मानव मस्तिष्क बहुत लचीला है, उसे प्रशिक्षित कर बदला जा सकता है। उसमें पुरानी आदतों के परिष्कार एवं नई आदतों के ग्रहण की अद्भुत क्षमता है। हिंसा के स्फुलिंगों को प्रसुप्त कर अहिंसा के स्फुलिंगों को जागृत करना ही अहिंसा प्रशिक्षण का लक्ष्य है।

हमारा यह भी दायित्व है कि हम अहिंसा की शक्तियों को एकजुट करें। जब हिंसा और शस्त्र की शक्ति में विश्वास रखने वाले एक साथ बैठकर चिन्तन कर सकते है तब क्या यह संभव नहीं है कि नैतिकता, संयम, अहिंसा और शांति में विश्वास रखने वाले एकसाथ मिलकर शांति की संस्कृति के लिए कार्य करें। उच्छृंखल हो रही अर्थ और राज्य शक्ति पर अंकुश के लिए अहिंसा की शक्ति का निर्माण आज की आवश्यकता ही नहीं अपरिहार्यता है।

समय हमारा पथ प्रशस्त कर रहा है। हम यदि हमारे दायित्वों का निर्वहन सम्यक् रूप से करते रहें तो विश्व शांति और हिंसा सार्वभौम की युगों पुरानी हमारी कल्पना साकार रूप ले सकेगी।